श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणमर्यादाधुरन्धरचतुर्धरवंशावतंस-
श्रीगोविन्दसूरिसूनोः श्रीनीलकण्ठस्य कृतिः

मन्त्र रामायणम्

(मन्त्ररहस्यप्रकाशिकाव्याख्या युतम्)

सम्पादक एवं हिन्दी अनुवादक
राम कुमार राय
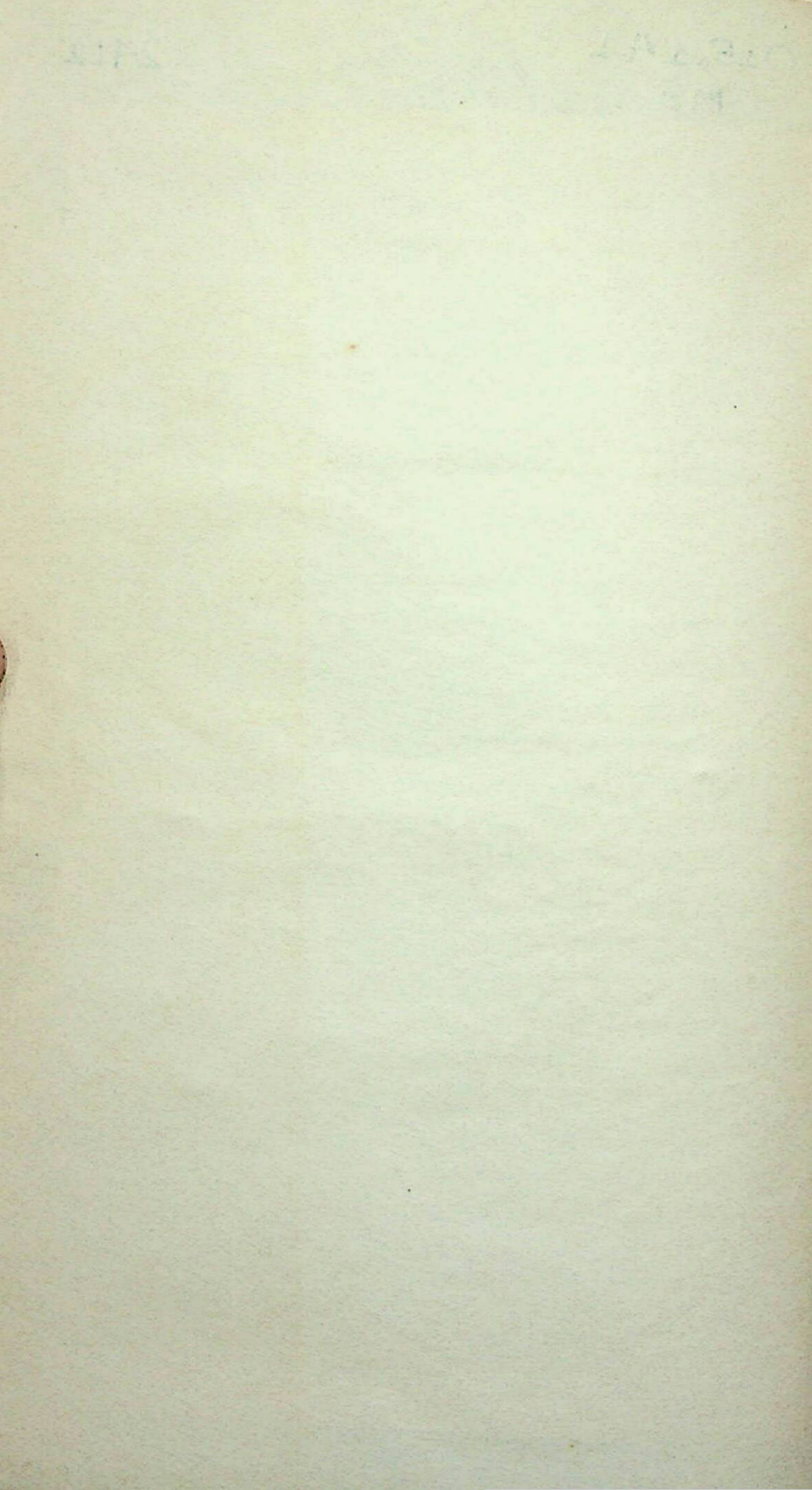
प्राच्य प्रकाशन. वाराणसी

तन्त्र ग्रन्थमाला नं० १५

श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणमर्यादाधुरन्धरचतुर्धरवंशावतंस-
श्रीगोविन्दसूरिसूनोः श्रीनीलकण्ठस्य कृतिः

मन्त्र रामायणम्

(मन्त्ररहस्यप्रकाशिकाव्याख्या युतम्)

प्रस्तावना
डा० लक्ष्मी नारायण तिवारी
अध्यक्ष पालि विभाग
श्री सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पादक एवं हिन्दी अनुवादक
राम कुमार राय

प्राच्य प्रकाशन, वाराणसी

TANTRA GRANTHAMALA No. 15

Mantra Ramayan

(Compiled by the Great Commentator
NILAKANTHA
with his own Sanskrit Commentary)

With a Foreword by
Dr. Lakshmi Narayan Tewari
Head : Department of Pali
Sri Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi

Hindi Translation by
RAM KUMAR RAI

PRACHYA PRAKASHAN
74-A, Jagatganj, Varanasi-221002

विषय सूची

भूमिका

बहुधा विजया दशमी का पर्व निकट आने पर पत्र पत्रिकाओं में यदा-कदा रामायण के विभिन्न पात्रों, जैसे श्रीराम, दशरथ, सीता, जनक आदि का वेदों में उल्लेख होने के विषय पर विद्वानों द्वारा लेख लिखे जाते हैं। परन्तु इस प्रकार के लेखों से कभी भी यह सिद्ध नहीं हो पाता कि इन नामों का रामायण के इन्हीं नाम के पात्रों से या रामायण में वर्णित क्रियाकलापों से भी कोई सम्बन्ध है। फलस्वरूप आधुनिक विद्वान् रामकथा के वेदकत्व को सिद्ध कर पाने में अब तक असमर्थ ही रहे हैं।

परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि अनेक शताब्दियों पूर्व प्रख्यात भाष्यकार श्री नीलकण्ठ ने इस विषय का अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण समाधान कर दिया था। इसे दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि श्री नीलकण्ठ द्वारा रचित यह मन्त्र रामायण इतने अधिक वर्षों से अनुपलब्ध थी और आज लोगों को इसका स्मरण भी नहीं रह गया है। नीलकण्ठ ने ऋग्वेद से १५७ मन्त्रों का चयन कर उनकी इस प्रकार व्याख्या की है कि उन मन्त्रों से सम्पूर्ण रामकथा व्यक्त होती है। स्पष्ट है कि नीलकण्ठ अपने तर्कपूर्ण पाण्डित्य के कारण ही इस कार्य में सफल हुए हैं। व्याख्या में उनके तर्क इतने सटीक हैं कि इस ग्रन्थ को पढ़ने के बाद रामकथा के वेदकत्व पर सन्देह का लेश भी शेष नहीं रहता।

यहाँ नीलकण्ठ के तर्कों की महत्ता या समीचीनता के विषय में कुछ कहना मेरी धृष्टता होगी। मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि प्रस्तुत ग्रन्थ में नीलकण्ठ की ऋग्वेद के मन्त्रों की रामकथा-परक व्याख्या को पढ़कर इसके वेदकत्व के प्रति कहीं भी सन्देह का स्थान नहीं रह जाता। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आधुनिक विद्वान् इसे पढ़ने के बाद अब अधिक अधिकारपूर्वक रामकथा के वेदकत्व को सिद्ध करने तथा जहाँ नीलकण्ठ ने विषय को छोड़ा है उसे आगे बढ़ाने का प्रयास कर सकेंगे।

पुस्तक के सम्पादन में मेरा दो ही योगदान रहा है : (१) मैंने नीलकण्ठ द्वारा सङ्कलित ऋग्वेद के मन्त्रों का सन्दर्भ संकेत दे दिया है जिससे विद्वान् उन मन्त्रों को सरलता से खोज सकें। (२) मैंने नीलकण्ठ की व्याख्या के

आधार पर ही मन्त्रों का हिन्दी अनुवाद कर दिया है जिससे ग्रन्थ थोड़ा अधिक बोधगम्य हो गया है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में मेरे विद्वान् मित्र पं० लक्ष्मी नारायण तिवारी ने एक अत्यन्त गवेषणापूर्ण प्रस्तावना लिखकर ग्रन्थ को वास्तव में शोधकर्त्ताओं के लिये महत्त्वपूर्ण बना दिया है। उनके इस कार्य के लिये मैं धन्यवाद देकर औपचारिकता का निर्वाह मात्र नहीं करना चाहता। उन्होंने कितने परिश्रम और शोध के पश्चात् इसे लिखा है यह इस प्रस्तावना को पढ़कर पाठक स्वयं समझ सकते हैं। उन्होंने अपने इस लेख से ग्रन्थ की उपयोगिता में अत्यधिक वृद्धि कर दी है। अतः मैं उनके प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ

यदि यह ग्रन्थ श्री रामकथा के प्रचार और उसके वेदकत्व को प्रमाणित करने में विद्वानों की कुछ भी सहायता कर सका तो मैं अपने प्रयास को सफल मानूँगा।

रामकुमार राय

प्रस्तावना

राम-कथा ने भारतीय समाज को चिर अतीत से ही अनुप्राणित किया है। इसकी महिमा वर्णनातीत है। सम्प्रति दूरदर्शन पर रामकथा प्रदर्शित हो रही है और इसके प्रदर्शन के समय नगरों की सड़कें तथा गलियाँ वीरान हो जाती हैं, क्योंकि सम्पूर्ण भारतीय समाज दत्तचित्त से उसे देखने में संलग्न रहता है। इतना ही नहीं, इस कार्य को वह पूर्ण आदरभाव, भक्ति और निष्ठापूर्वक सम्पन्न करता है। असंख्य नर-नारी इसे देखने में स्नान करके उपवास रखते हुए ही प्रवृत्त होते हैं। यह स्थिति आधुनिक युग की है, जिसे सनातन परम्परा में 'कलिकाल' की संज्ञा प्रदान की गयी है। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि इसके पूर्व इस कथा के प्रति भारतीय जन-मानस की कितनी आदरयुक्त निष्ठा रही होगी। रामकथा आदिमहाकाव्य, परवर्ती कतिपय महाकाव्यों एवं अनेक काव्यों का प्रेरणा-स्रोत तो है ही, साथ ही यह भारतीय परिवार को धर्म-पथ में नियोजित करनेवाली, आचार तथा विचार की स्थापिका एवं संस्कार-सम्बन्धों की आदर्श-स्वरूपा है और इस पवित्र देश की चिरन्तन भक्ति, ज्ञान एवं मैत्री भावनाओं का प्रतिनिधित्व सर्वाङ्गीण-रूप में करती है। इस कथा में जो आदर्श चित्रित हुए हैं, वे मात्र भारतवर्ष के लिये ही मान्य अथवा आदरणीय नहीं है, अपितु वे जगत् के मानव-मात्र के समक्ष उच्च नैतिक स्तर तथा सामाजिक उदात्त भावना को प्रस्तुत करते हुए उसकी प्रतिष्ठा करते हैं। यह कथा जीवन के स्थायी मूल्य-युक्त तत्त्वों, तथ्यों तथा सिद्धान्तों पर आधारित है। इसमें अतीत, वर्तमान तथा अनागत की समस्त पीढ़ियों को समीचीन रूप से राह दिखाने की क्षमता विद्यमान है, अतः यह उदात्तता, अर्थ एवं काम की धर्मानुकूलता, विपत्ति-काल में विपत्ति-ग्रसित व्यक्ति को संरक्षण प्रदानत्व, प्रताड़ित मानव की रक्षणीयता तथा शरणागत को शरण देने आदि महनीय गुणों से संवलित है और इस प्रकार यह विश्व के शाश्वत मूल्यों से युक्त है।

रामकथा के सर्वोज्वल चरित्र श्रीराम का नाम-श्रवण करने मात्र

से उनमें विद्यमान आदर्श गुण हमारे हृदय-पटल पर अङ्कित हो जाते हैं तथा जनकनन्दिनी सीता का नाम आते ही हमारे समक्ष असाधारण पातिव्रत्य की एक अप्रतिम प्रतिमा प्रस्तुत हो जाती है और हम परमानन्द की अवस्था का अनुभव करने लगते हैं। पूरा भारत देश रामकथा से इतना ओतप्रोत है कि राम तथा सीता हमें अतीत युग के प्राणिमात्र नहीं लगते, प्रत्युत ऐसा भासित होता है कि वर्तमान में भी उनका अपूर्व व्यक्तित्व हमारे नेत्रों के समक्ष उपस्थित है, जिसे आदर्श मानते हुए हम आगे बढ़ रहे हैं। रामकथा के प्रतिनिधिभूत ग्रन्थ वाल्मीकि-रामायण की सर्वाङ्गीणता की ओर सङ्केत करके कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ने इस कथा के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए ही यह कहा था कि इसकी प्रधान विशेषता यही है कि इसमें गृहस्थ जीवन-चर्या का वर्णन विस्तृत रूप से प्राप्त होता है। पिता-पुत्र, भाई-भाई, पति-पत्नी आदि में जो धर्म तथा समाज के सूत्र एवं प्रेम तथा भक्ति से युक्त सम्बन्धादि हैं, उनको उजागर करते हुए 'रामायण' ने इतना महान बना दिया है कि वह सहज-रूप में महाकाव्य के उपयुक्त हो गया है। हिमालय सदृश उच्च और व्यापक आदर्शों तथा सागर सदृश गम्भीर विचारों का एक साथ किसी एक ग्रन्थ में समावेश हो पाया है तो वह 'रामायण' ही है। अपने इन्हीं मौलिक वैशिष्ट्यों के कारण देश तथा काल की सीमाओं को तोड़कर 'रामायण' आज विश्व साहित्य की महान् कृति है एवं महामुनि वाल्मीकि विश्वकवि के रूप में सर्वत्र पूजित हो रहे हैं।

इन्हीं उदात्त गुणों के कारण रामकथा ने केवल भारत में ही नहीं, अपितु इसके निकटवर्ती देशों की संस्कृति तथा साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है और तिब्बत, खोतन, हिन्देशिया, हिन्द-चीन, थाईलैण्ड एवं बर्मा आदि देशों तक कालान्तर में इसका अनेक रूपों में प्रचार-प्रसार हुआ है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में यह सर्वत्र व्याप्त है। आर्य भाषाओं के साहित्य में सिंहली रामकथा, काश्मीरी रामायण, असमिया में माधव-कन्दली-रामायण आदि, बंगला में कृत्तिवास-रामायण आदि, हिन्दी में श्री रामचरितमानसादि, मराठी में भावार्थ-रामायणादि, गुजराती में रामलीला ना पदो आदि, उर्दू में रामायण खुश्तर और रामायण मंजूम आदि एवं फारसी में वाल्मीकि रामायण

का पद्यानुवाद और रामायण मसीही आदि प्राप्त हैं। इसी प्रकार द्रविड़ भाषाओं में, तमिल में तमिल-रामायण, तेलगु में द्विपद रामायण आदि, मलयालम में रामचरितम् आदि तथा कन्नड़ में तोर वे रामायण आदि विद्यमान हैं। आदिवासी भाषा-भाषियों की कथाओं में भी रामकथा अनेक रूपों में प्राप्त होती है। इस प्रकार रामकथा सम्पूर्ण भारत तथा इसके निकटवर्ती देशों की संस्कृति तथा साहित्य में पूर्णतया व्याप्त है और इसी से इसकी व्यापकता तथा महानता के सम्बन्ध में अनुमान लगाया जा सकता है।

भारत के धार्मिक, सांस्कृतिक एवं पारिवारिक जीवन पर मर्यादा-पुरुषोत्तम के रूप में राम का अमिट प्रभाव विद्यमान है। हिन्दू-परिवारों में अतीत से ही अनेक माङ्गलिक अवसरों पर रामचरित से सम्बन्धित गीत गाये जाते हैं और अन्तिम शरीर-यात्रा भी राम के नामोच्चारण की ध्वनि के साथ ही पूर्ण होती है। भारत में विद्यमान मन्दिरों के ऊपर यदि विचार किया जाय तो हम यही पाते हैं कि इस पवित्र देश के कोने-कोने में राम के मन्दिर हैं तथा यहाँ के असंख्य लोग प्रतिदिन रामकथा के प्रतिनिधि-भूत ग्रन्थ रामायण का पाठ करते हैं एवं राम के जीवन से सम्बन्धित अयोध्या, चित्रकूट, पञ्चवटी तथा रामेश्वर आदि तीर्थों की यात्रा करके अपने को कृतकृत्य मानते हैं। मात्र हिन्दुओं के ही नहीं अपितु थाईलैण्ड एवं कम्बोडिया तथा हिन्देशिया आदि सुदूर देशों के व्यक्तियों तथा स्थानों के नाम भी रामकथा से सम्बन्धित हैं। भगवान् के नामों में भारत में सर्वप्रसिद्ध नाम 'राम' ही है और यह नाम भारतीय जीवन में रम-सा गया है तथा उससे इसका एकाकार पूर्णरूपेण स्थापित है। ऐसी स्थिति में तो रामकथा की ऐतिहासिकता पर किसी प्रकार का प्रश्न उठाने का अवकाश ही नहीं रह जाता।

फिर भी आधुनिक युग में इस सन्दर्भ में प्रश्न उठाये गये हैं और पाश्चात्य विद्वानों ने अन्य ऐतिहासिक मुद्दों की भाँति इन प्रश्नों का समाधान भी अपने-अपने अनुसार कर डाला है, यद्यपि सत्य अतीत के गर्भ में अन्तर्हित है। इस परिप्रेक्ष्य में सर्वप्रथम वैदिक वाङ्मय तथा रामकथा में क्या कोई सम्बन्ध है, इस प्रश्न को लिया गया है।

रामकथा के अनेक पात्रों आदि के नाम हमें वैदिक साहित्य में

प्राप्त होते हैं। ये इक्ष्वाकु, दशरथ, राम, अश्वपति, जनक तथा सीता आदि हैं। इन पर संक्षेप में विचार कर लेना समीचीन होगा।

इक्ष्वाकु का उल्लेख ऋग्वेद में एक बार हुआ है— 'यस्येक्ष्वाकुरुप व्रते रेवान् मराय्येधते' (ऋ० सं० १०।६०।४;) अर्थात् जिसकी सेवा में धनवान् प्रतापवान् इक्ष्वाकु की वृद्धि होती है। अथर्ववेद में भी एक बार इक्ष्वाकु का नाम आया है—'त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाको यम्' (अ० सं० १९।३९।९) अर्थात् तुम जिसे इक्ष्वाकु पूर्वकाल में जानता था। ऋग्वेद में ही दशरथ का एक बार उल्लेख हुआ है— 'चत्वारिंशद् दशरथस्य शोणाः सहस्रस्याग्रे श्रेणिं नयन्ति' (ऋ० सं० १।१२६।४); अर्थात् दशरथ के लाल रंग अथवा भूरे रंग के चालीस घोड़े एक हजार घोड़ों के दल का नेतृत्व करते हैं। अश्वपति कैकेय का वर्णन शतपथब्राह्मण (१०।६।१।२) तथा छान्दोग्य उपनिषद् (५।११।४) में हुआ है। इन दोनों ग्रन्थों के इन स्थलों पर प्रसङ्ग एक ही है। आत्मा और ब्रह्म के विषय में कई ब्राह्मण दार्शनिक विवेचन कर रहे हैं। वैश्वानर-रूपी तत्त्व के सम्बन्ध में इस विवेचन के सन्दर्भ में जब वे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते तो उनमें से एक का यह प्रस्ताव होता है कि अश्वपति कैकेय वैश्वानर तत्त्व को जानते हैं। उनके यहाँ जाने पर जिज्ञासा की शान्ति होगी। सभी की सहमति के अनन्तर वे लोग उनके यहाँ जाते हैं और अश्वपति उनको वैश्वानर तत्त्व के सम्बन्ध में शिक्षा देते हैं।[1]

इक्ष्वाकु सम्बन्धी उपर्युक्त उल्लेख का कोई विशेष महत्व न मानते हुए इस सन्दर्भ में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा यह कहा गया है कि इसके बारे में मात्र इतना ही कहा जा सकता है कि इस नाम के कोई राजा थे यद्यपि उनका राम के साथ कोई असाधारण सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार राजा दशरथ का भी उपर्युक्त उल्लेख से कोई विशेष परिचय नहीं प्राप्त होता। यही स्थिति अश्वपति कैकेय सम्बन्धी वर्णन की भी है। इससे भी मात्र इतना ही ज्ञात होता है कि ये एक राजा थे, जिनके यहाँ ब्राह्मण भी तत्त्व सम्बन्धी जिज्ञासाओं की शान्ति हेतु जाते थे। इसके अतिरिक्त इस प्रसङ्ग में रामकथा के अन्य पात्रों से इनके किसी सम्बन्ध की सूचना नहीं प्राप्त होती।[2]

---

१. द्रष्टव्य, फादर कामिल बुल्के, रामकथा, पृष्ठ १-२, ३।

२. वहीं।

किन्तु पाश्चात्यों की उपर्युक्त प्रकार की धारणाओं से भारतीय परम्परागत विद्वान् सहमत नहीं हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि वेदों में तो सूत्र-रूप से ही ऐसी बातों की ओर इङ्गित किया गया है तथा आख्यानों का विस्तार तो पुराणादि में प्राप्त होता है। वैदिक मन्त्रों में आये हुए शब्दों का उपबृंहण इतिहास, पुराण तथा अन्य आर्ष-ग्रन्थों द्वारा होता है और पाश्चात्य विद्वान् वेद की अपौरुषेयता स्वीकार करने वाली भारतीय मनःस्थिति तथा परम्परा को यहाँ के धरातल पर आकर समझने में समर्थ नहीं हैं और उन्हें समझाया भी नहीं जा सकता। इक्ष्वाकु सम्बन्धी उपर्युक्त उल्लेख से यह स्थापना भी होती है कि मन्त्र के रचनाकाल में इक्ष्वाकु एक प्राचीन वीर माने जाते थे। किन्तु स्वामी करपात्री जी ने इस सन्दर्भ में यह कहा है— "इससे यह भी नहीं समझना चाहिये कि मन्त्र-रचना के पहले इक्ष्वाकु नाम के राजा प्रसिद्ध थे, उनके बाद मन्त्र-रचना हुई, क्योंकि लोक में यद्यपि घटनापूर्वक शब्दोल्लेख होता है, तथापि वेद में शब्दानुसारिणी ही घटना होती है।"[१] यही बात दशरथ के उपर्युक्त उल्लेख के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। साथ ही अश्वपति कैकय को महाराज दशरथ की प्रसिद्ध पटरानी कैकेयी का पिता मानने में कोई कठिनाई नहीं है।[२]

जनक का प्रथम उल्लेख हमें कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।१०।९) में प्राप्त होता है, जो सवित्राग्नि-यज्ञ के फल को बतलाने के लिये आख्यानरूप में आया है। इसके अनुसार जनक वैदेह देवताओं से मिलते हैं और देवता इस यज्ञ के अनेक फलों का वर्णन करते हैं। इसके अतिरिक्त शतपथब्राह्मण के चार स्थलों (११।३।१।२-४; ११।४।३।२०; ११।६।२।१-१०; ११.६.३.१) आदि में भी जनक का वर्णन आया है। इसके साथ ही याज्ञवल्क्य का भी इन स्थलों पर उल्लेख है। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में इन उल्लेखों से यही ज्ञात होता है कि जनक एक तत्त्वज्ञ पुरुष हैं तथा वे याज्ञवल्क्य को भी शिक्षा देते हैं और स्वयं ब्राह्मण बन जाते हैं। बाद में बृहदारण्यक उपनिषद् में स्थिति बदल गयी है। उसमें याज्ञवल्क्य ही जनक को शिक्षा

---

१. द्रष्टव्य, स्वामी करपात्री जी, रामायणमीमांसा, पृष्ठ १५।

२. वहीं, पृष्ठ १७।

देते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में यह स्थल ३।१।१-२ है। इन स्थलों के उल्लेखों से पाश्चात्य विद्वान् यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जनक को क्षत्रिय तथा ब्राह्मण दोनों बतलाया गया है और वे उन्हें क्षत्रिय से ब्राह्मण बनने की ओर इङ्गित करते हैं। ये विचार रामकथा पर अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करनेवाले फादर कामिल बुल्के के हैं।[1]

किन्तु पूरे प्रसङ्ग पर विचार करने पर यह उनकी भ्रान्ति ज्ञात होती है। 'ब्रह्म' शब्द से उन्हें 'ब्राह्मण' की भ्रान्ति हुई है। शतपथ ब्राह्मण में (११।६।२।१०) में उल्लेख आया है—

"याज्ञवल्क्यो वरं ददौ सहोवाच कामप्रश्न एव मे।
त्वयि याज्ञवल्क्यासदिति ततो ब्रह्मा जनक आस॥"

यतः याज्ञवल्क्य ब्रह्मविद्या में निष्णात थे अतः जनक ने उनसे यथेष्ट प्रश्न करने का वर प्राप्त किया था। कालान्तर में जब याज्ञवल्क्य पुनः जनक के यहाँ आये तो उसी वरदान के प्रसङ्ग में जनक ने उनसे ब्रह्म के सम्बन्ध में विविध प्रश्न किये थे और उनका उत्तर पाने पर जनक स्वयं भी याज्ञवल्क्य के समान ब्रह्मिष्ठ हो गये। सायणाचार्य ने उक्त प्रसङ्ग की व्याख्या में स्पष्ट-रूप से प्रतिपादित किया है कि याज्ञवल्क्य से वर प्राप्त कर जनक 'ब्रह्मा' अर्थात् 'ब्रह्मिष्ठ' हो गये— "ततो याज्ञवल्क्यवरप्रदानान्तरं स जनकः ब्रह्मिष्ठो बभूव।" अतः यहाँ पर 'ब्रह्म' शब्द से 'ब्राह्मण' की भ्रान्ति हुई है, यह स्पष्ट है। इन प्रसङ्गों में आये जनक में से किसी को इस तर्क के आधार पर ब्राह्मण मानना और अन्य को क्षत्रिय मानना बिल्कुल निराधार ज्ञात होता है।[2]

बुल्के के अनुसार भिन्न-भिन्न राजाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिनके नाम जनक दिये गये हैं। इनमें से एक मिथि के पुत्र हैं तथा दूसरे ह्रस्वरोमा के पुत्र तथा सीता के पिता। यह उल्लेख वाल्मीकि रामायण में हुआ है। महाभारत में सीता जनक की पुत्री तो मानी जाती हैं, लेकिन जहाँ-जहाँ जनक का स्वतन्त्र उल्लेख हुआ है, वहाँ रामकथा से इनके किसी सम्बन्ध का निर्देशमात्र भी नहीं मिलता, साथ ही यहाँ भी जनक नामक कई भिन्न राजाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। इन वर्णनों

---

१. द्रष्टव्य, फादर कामिल बुल्के, रामकथा, पृष्ठ ४-६।
२. द्रष्टव्य, स्वामी करपात्री जी, रामायणमीमांसा, पृष्ठ १६-१७

तथा वैदिक वाङ्मय में आये जनक के उल्लेखों से श्री बुल्के के अनुसार हम मात्र किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रामकथा के अन्य पात्रों की अपेक्षा जनक वैदेह का अधिक उल्लेख प्राप्त है, किन्तु अर्वाचीन रामकथा में ये दोनों अभिन्न माने जाते हैं। परन्तु वास्तव में दोनों की अभिन्नता सिद्ध करने के लिये प्रमाण नहीं दिये जा सकते और यह स्वीकार करना पड़ता है कि यहाँ पर कहीं भी यह उल्लेख नहीं प्राप्त होता कि सीता जनक की पुत्री हैं, अथवा राम उनके जामाता हैं।[1]

"किन्तु वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड, सर्ग ७१, श्लोक ४ के अनुसार मिथि के पुत्र प्रथम जनक हुए। वे इतने प्रतापी थे कि उनके नाम से जनक-वंश ही चल पड़ा। उस जनक-वंश में ह्रस्वरोमा जनक के दो पुत्र थे। छोटे का नाम कुशध्वज था और बड़े पुत्र सीता के पिता थे—

"तस्य पुत्रद्वयराज्ञो धर्मज्ञस्य महात्मनः।
ज्येष्ठोऽहमनुजो भ्राता मम वीरः कुशध्वजः॥"[2] (वा.रा. १।७१।१३)

यद्यपि राजा जनक के नाम का उल्लेख यहाँ नहीं है तो भी विष्णुपुराण (४।५।३०), वायुपुराण (८९।१५), ब्रह्माण्डपुराण (३।६४।१५) एवं पद्मपुराण पातालखण्ड (५७।५) के अनुसार उनका नाम सीरध्वज था। सीता के पिता सीरध्वज और जनक-याज्ञवल्क्य-संवाद से सम्बद्ध जनक अभिन्न प्रतीत होते हैं। पुराणों के अनुसार सीता के पिता महान् ज्ञानवान् और योगनिष्ठ थे। वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि अपरिगणित महर्षियों से पूर्ण परिचित थे। साक्षात् विष्णुस्वरूप राम के श्वसुर और महालक्ष्मीरूपा सीता के पिता होने का भी सौभाग्य उन्हें प्राप्त था। इससे वैदिक जनक और रामायण के जनक की अभिन्नता समझी जा सकती है, क्योंकि अभिन्नता का बाधक कोई प्रमाण विद्यमान नहीं है[3]।"

'राम' नाम का उल्लेख भी वैदिक वाङ्मय में प्राप्त होता है। ऋग्वेद के (१०।९३।१४) में राजा के रूप में राम का उल्लेख हुआ है—

"प्र तद् दुःशीमे पृथवाने वेने प्र रामे वोचमसुरे मघवत्सु।
ये युक्त्वाय पञ्च शतास्मयु पथा विश्राव्येषाम्" ॥

---

१. द्रष्टव्य, फादर कामिल बुल्के, रामकथा, पृष्ठ ६।

२. द्रष्टव्य, स्वामी करपात्री जी, रामायणमीमांसा, पृष्ठ १७।

३. वहीं।

अर्थात् मैंने दुःशीम पृथवान वेन और राम (असुर) इन यजमानों के लिये यह सूक्त गाया है। इन्होंने ५०० (घोड़े अथवा रथ) जुतवाये, (जिससे) उनका मुझ पर अनुग्रह चारों ओर फैल गया है।

इसके अतिरिक्त ऐतरेयब्राह्मण (७।२७।३४) में रामभार्गवेय, शतपथब्राह्मण (४।६।१।७) में राम औपतस्विनि तथा जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण के दो स्थलों में (३ । ७ । ३ । २ एवं ४ । ६ । १ । १) में राम क्रातुजातेय का वर्णन आया है। इन उपर्युक्त उल्लेखों में से प्रथम उल्लेख के विषय में श्री बुल्के ने यह प्रतिपादित किया है कि इससे मात्र इतना ही पता लगता है राम नामक कोई राजा हुए थे। शेष उल्लेखों को रामकथा के राम से भिन्न मानते हुए उनका यह कथन है कि "इन विभिन्न रामों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राचीनतम वैदिक काल से ही राजाओं और ब्राह्मणों दोनों में 'राम' नाम प्रचलित था"।[१]

किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर ऋग्वेद के उपर्युक्त राम-सम्बन्धी उल्लेख में आये राम को रामकथा के राम से अभिन्न मानने में कोई विशेष कठिनाई दृष्टिगोचर नहीं होती। सूर्यवंशी राजा वेन के बाद वर्णित राम अवश्य ही सूर्यवंशी थे, यह क्लिष्ट-कल्पना नहीं ज्ञात होती। रामकथा के राम ने बड़े-बड़े यज्ञों को अनुष्ठित किया था और 'असुर' शब्द को यहाँ पर महाप्राणवान् अथवा महाबलशाली के अर्थ में लेने में कोई कठिनाई नहीं है। साथ ही श्री बुल्के ने प्रश्नोपनिषद् के इस उल्लेख को छोड़ दिया है— "भगवन् हिरण्यनाभः कौशल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत" (प्र० उ० ६।१) यहाँ पर हिरण्यनाभ कौशल्य नाम की चर्चा हुई है जो वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड, सर्ग ७५, श्लोक १३ के अनुसार राम का ही नामान्तर है— "हिरण्यनाभो यत्रास्ते सुतो मे सुमहायशाः।" वैदिक वाङ्मय में राम के उल्लेख के प्रसङ्ग में इसे छोड़ा नहीं जा सकता, क्योंकि आपस्तम्बसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है— "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"; अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण दोनों की ही वेदसंज्ञा है और अधिकांश उपनिषदें ब्राह्मण-भाग के अन्तर्गत आती हैं।[२]

---

१. द्रष्टव्य, फादर कामिल बुल्के, रामकथा, पृष्ठ ३।

२. द्रष्टव्य; स्वामी करपात्री जी, रामायणमीमांसा, पृष्ठ १६।

सीता के उल्लेख पर विचार करते हुए श्री बुल्के ने वैदिक वाङ्मय से उद्धरण प्रस्तुत करते हुए इस नाम के वर्णन को अर्थ की दृष्टि से दो कोटियों में रखा है—पहली कोटि में सीता-सावित्री उपाख्यान है जो हमें तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्राप्त होता है और दूसरी कोटि में 'सीता' शब्द का प्रयोग जो लाङ्गल-पद्धति के अर्थ में वैदिक वाङ्मय के कई स्थलों में हुआ है, दिया गया है।[१] संक्षेप में श्री बुल्के के इस कथन की आलोचना देनी समीचीन प्रतीत होती है।

कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।३।१०) में जो सीता-सावित्री उपाख्यान है, वह श्री बुल्के के अनुसार काम्य प्रयोग का प्रभाव दिखलाने के उद्देश्य से ही उद्धृत किया गया है।[२] यह उपाख्यान सीता-सावित्री तथा सोम राजा से सम्बन्धित है और इसमें सीता और श्रद्धा दोनों प्रजापति की पुत्रियाँ मानी जाती हैं। इस उपाख्यान में सीता सोम राजा के प्रेम को स्थागर नामक अङ्गराग के द्वारा प्राप्त करती हैं। इस कथा का मूल रूप श्री बुल्के के अनुसार ऋग्वेद के सूर्या सूक्त में विद्यमान है और उनकी मान्यतानुसार यह ऋग्वेद के ऐतरेयब्राह्मण तथा कौषितकीब्राह्मण, तैत्तिरीयसंहिता, काठकसंहिता तथा मैत्रायणीसंहिता में भी है। तैत्तिरीयसंहिता में इस कथा का कुछ परिवर्तित रूप प्राप्त होता है जो श्री बुल्के के ही शब्दों में इस प्रकार है—"प्रजापति ने सोम राजा की और इसके पश्चात् तीनों वेदों की सृष्टि की थी। सोम राजा ने इन (वेदों) को हस्तगत किया। सीता-सावित्री सोम राजा को (पतिस्वरूप) चाहती थीं, (लेकिन) वह (सोम राजा) श्रद्धा (सीता की बहन) को चाहते थे। सीता ने अपने पिता प्रजापति के पास जाकर कहा, 'आपको नमस्कार, मैं आपके पास आयी हूँ और आपकी शरण लेती हूँ, मैं सोम राजा को पतिरूप में चाहती हूँ; परन्तु वे श्रद्धा को चाहते हैं।' प्रजापति ने उसके लिये स्थागर नामक अङ्गराग तैयार किया और पूर्व दिशा की ओर दस होतृ-मन्त्र पढ़कर, दक्षिण की ओर चार होतृ-मन्त्र, पश्चिम की ओर पाँच होतृ-मन्त्र, उत्तर की ओर छह होतृ-मन्त्र, ऊपर की ओर सात होतृ-मन्त्र पढ़कर तथा सम्भार-

---

१. द्रष्टव्य, फादर कामिल बुल्के, रामकथा, पृष्ठ ७-२३।

२. वहीं, पृष्ठ ७।

मन्त्रों और पत्नी-मन्त्रों से उस अङ्गराग को अभिमन्त्रित कर सीता का मुख उन्होंने अलंकृत किया और इसके अनन्तर वह सोम राजा के पास गयी। सीता को देखकर सोम राजा ने कहा कि मेरे पास आइये। सीता ने कहा कि 'मैं आपके पास आती हूँ, परन्तु आप प्रतिज्ञा करें कि मुझसे सम्बन्ध रखेंगे और आपके हाथ में जो है, उसे मुझे दे दीजिए।' सोम राजा ने सीता को तीनों वेद दे दिये"।[१] इसके बाद इस अङ्गराग की महिमा तथा इसके प्रयोग का वर्णन है।

इस उपाख्यान तथा वाल्मीकि रामायण के सम्बन्ध में श्री बुल्के का तर्क है कि "सीता-सावित्री आदि कथाओं का इससे कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, फिर भी सम्भव है कि अनसूया के अङ्गराग का वृत्तान्त इस उपाख्यान से प्रभावित हो जो वाल्मीकि रामायण के २।११८।२० तथा अध्यात्म रामायण के २।६।८६ में प्रस्तुत हुआ है। उनके अनुसार गोस्वामी तुलसीदास जी भी तैत्तिरीयब्राह्मण के उपर्युक्त उपाख्यान से परिचित थे और उन्होंने सीता की मर्यादा के विरुद्ध समझ कर इस अङ्गराज की चर्चा नहीं की....."[२] आदि।

श्री बुल्के की उपरिस्थित अङ्गराग-सम्बन्धी चर्चा का पूर्णरूपेण उल्लेख करते हुए स्वामी करपात्री जी ने भारतीय परम्परा की दृष्टि से इसकी आलोचना की है जिसे उन्हीं के शब्दों में नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है जिससे विद्वत् समाज उसके सम्बन्ध में उनकी दृष्टि को भी जान ले—

"यहाँ बुल्के साहब ने तैत्तिरीयब्राह्मण में वर्णित सीता-सावित्री के मन्त्राभिमन्त्रित स्थागर (अङ्गराग) से वाल्मीकि रामायण और अध्यात्म-रामायण में उल्लिखित अङ्गराग की भिड़न्त भिड़ाकर स्थागर का विकास इस रूप में माना है और तुलसीदास जी ने जान बूझकर यह छिपा लिया, ऐसा बतलाया है। परन्तु यह कथन अयथार्थ है, क्योंकि जो बात बाल्मीकि-रामायण और आध्यात्म-रामायण दोनों में हो, महात्मा तुलसीदास उसका अपलाप नहीं कर सकते। अतः उनके 'दिव्य वसन भूषण' शब्द से अङ्गराग भी समझ लेना चाहिये। यहाँ

---

१. वहीं, पृष्ठ ८-९।

२. वहीं पृष्ठ ९।

एक बात और ध्यान देने योग्य है; वह यह कि ऋषि सर्वज्ञकल्प होते हैं, अतः स्वतन्त्र रूप से अनसूया-समर्पित अङ्गराग दिव्य वसन-भूषण आदि का ज्ञान प्राप्त कर उन्होंने उल्लेख किया है। संसार में समान-रूप से मिलती-जुलती अनेक घटनाएँ हो सकती हैं, अतः यह आवश्यक नहीं कि सावित्री सीता द्वारा प्राप्त अङ्गराग का ही यहाँ आवर्तन किया जाय। अतएव प्रजापति द्वारा सूर्या को दत्त अङ्गराग अन्य वस्तु है और अनसूया द्वारा सीता को प्रदत्त अङ्गराग अन्य वस्तु। सावित्री सीता का स्थागर केवल मुखलेप है तथा अनसूया द्वारा सीता के लिये दी गयी वस्तु अङ्गराग है। मुखलेप वशीकरण के लिये है, यह केवल स्वाभाविक सौन्दर्य का अभिव्यञ्जक है और अङ्गराग सर्वाङ्ग-विलेपन है, इसके साथ दिव्य मालाएँ, वस्त्र एवं आभूषण भी हैं....।"[१]

उपर्युक्त के अतिरिक्त 'सीता' शब्द का प्रयोग काठकसंहिता (२०।३), कपिष्ठलसंहिता (३२।५-६), मैत्रायणीसंहिता (३।२।४-५) तथा तैत्तिरीयसंहिता (५।२।५।५) में तथा शतपथब्राह्मण (१३।८।२। ६-७) आदि में हुआ है और यह पाश्चात्त्य विद्वानों की दृष्टि से लाङ्गल-पद्धति के विषय में है[२]। वे मानते हैं कि उन स्थलों पर सीता के व्यक्तित्व का आरोप विद्यमान नहीं है। तथा इससे सीता को कृषि की अधिष्ठात्री देवी के रूप में लिया जा सकता है[३]। सीता की प्रार्थना अथर्ववेद (३।१७।१) में विद्यमान है। इसकी अधिकांश सामग्री ऋग्वेद के दो सूक्तों से ली गयी है। परन्तु यदि इन मन्त्रों पर हम विचार करें तो यह लाङ्गलपद्धति-मात्र की स्तुति नहीं है—

"सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव।
यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः॥
(अथ० सं० ३।१७।८)

अर्थात् हे सीते, हम तुम्हें नमस्कार करते हैं। हे सुन्दर भाग्यवाली सीताभिमानिनी देवी, आप हमारे वैसे अभिमुख हों, जिस प्रकार से हमलोगों के प्रति सुन्दर मनवाली हों एवं जिससे हमलोगों को शोभन

---

१. द्रष्टव्य, स्वामी करपात्री जी, रामायण-मीमांसा, पृष्ठ २९-३०।
२. द्रष्टव्य, फादर कामिल बुल्के, रामकथा, पृष्ठ ७।
३. वहीं, पृष्ठ ११-२३।

फल देनेवाली हो। यह मात्र लाङ्गलपद्धतिमात्र की स्तुति नहीं हो सकती[1]। क्या हम इसमें महाशक्ति की अभिव्यञ्जना नहीं पाते ? एक प्रकार से इन सबके द्वारा इसमें आह्लादिनी सर्वशक्तिस्वरूपा तेजोमयी शक्ति का निरूपण निर्दर्शित है। छान्दोग्य उपनिषद् (७।१।४) में कहा गया है कि "इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः"। इसके अनुसार इतिहास पुराणादि भी वेद की कोटि में ही आ जाते हैं।

जहाँ तक वेदों के तात्पर्य का प्रश्न है, यह परब्रह्म परमेश्वर में ही है। साथ ही अधिकांश मन्त्र तथा ब्राह्मणों के द्वारा कर्मकाण्ड और उपासनाओं का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार ब्रह्म निर्गुण तथा निराकार है, वैसे ही वह अचिन्त्य सौन्दर्य तथा माधुर्य आदि से पूर्ण साकार रूप में भी वर्णित है। वह अपने लिये भी श्रीविग्रह का निर्माण कर सकता है। अतएव यजुर्वेदसंहिता (५।२०) में निम्नाङ्कित मन्त्र आता है—

"प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥

विद्वानों के अनुसार यहाँ पर आये 'भीमो मृगः' से नृसिंहावतार का निदर्शन है तथा 'कुचरः' से भूमिचारी राम, कृष्ण आदि का अवतार इङ्गित है और 'त्रिषु विक्रमणेषु' से वामनावतार सूचित है। इस प्रकार से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह नहीं कहा जा सकता कि वैदिक वाङ्मय में रामकथा का निदर्शन नहीं है[2]।

रामकथा की उत्पत्ति के सन्दर्भ में भी विभिन्न मत विद्वानों ने प्रस्तुत किये हैं और इस सन्दर्भ में उन पर संक्षेप में विचार प्रस्तुत करना समीचीन ज्ञात होता है। डा० वेबर की मान्यता है कि रामकथा का मूल रूप दशरथजातक में सुरक्षित है तथा इसमें सीताहरण तथा रावण युद्ध का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है; अतः सीताहरण वाले इस अंश का मूलस्रोत सम्भवतः होमर का काव्य है जिसमें पैरिस द्वारा हेलेन का हरण वर्णित है और लङ्का-युद्ध का आधार है यूनानी सेना द्वारा ट्राय का अवरोध[3]।

---

१. द्रष्टव्य, स्वामी करपात्री जी, रामायणमीमांसा, पृष्ठ २३।
२. वहीं, पृष्ठ ३६-३७।
३. द्रष्टव्य, ए० वेबर, आन दि रामायण, पृष्ठ ११ आदि।

किन्तु आज तक इस विषय पर आलोचना तथा समीक्षा करनेवाले किसी विद्वान् ने इस विषय पर इस दृष्टि से विचार करने का कष्ट नहीं किया कि क्या दशरथजातक से भी पूर्व बौद्ध पालि त्रिपिटक में राम-कथा की ओर संकेत है और उसके परिप्रेक्ष्य में दशरथजातक की स्वयं क्या स्थिति होती है और कालक्रम का क्या प्रश्न उपस्थित होता है। अतः इस संकेत के सन्दर्भ में इस पूरे प्रकरण पर पुनः विचार अपेक्षित है।

त्रिपिटक के सुत्तपिटक के दीघनिकाय नामक प्रथम निकाय का प्रथम सुत्त 'ब्रह्मजालसुत्त'[1] है। इसमें भगवान् बुद्ध ने भिक्षुको को निरर्थक प्रलाप तथा युद्ध-कथा की चर्चा करने से मना किया है। प्रसङ्ग यह है कि एक बार भगवान् बुद्ध भिक्षु-सङ्घ के साथ राजगृह से नालन्दा जा रहे थे और उस समय सुप्रिय परिव्राजक भी अपने शिष्य ब्रह्मदत्त के साथ उसी मार्ग पर आरूढ़ था। सुप्रिय अनेक प्रकार से बुद्ध, धर्म तथा सङ्घ की निन्दा कर रहा था तथा ब्रह्मदत्त इसके विपरीत प्रशंसा। रास्ते में रात को बुद्ध एक स्थान पर ठहर गये और सुप्रिय तथा ब्रह्मदत्त भी वहाँ ठहरे और वे दोनों उसी प्रकार से चर्चा में लिप्त रहे। भिक्षुओं ने इस सम्बन्ध में जब बुद्ध से प्रश्न किया तो उन्होंने उत्तर दिया कि शीलवान् होने के कारण सामान्य जन उनकी प्रशंसा करते हैं। बुद्ध ने उस समय शील की व्याख्या इसे प्रारम्भिक, मध्यम तथा महाशील में करके की और प्रारम्भिक शील के अन्तर्गत जीव-हिंसा, चोरी, अब्रह्मचर्य आदि से विरत रहने को परिगणित करते हुए कहा कि इन सबसे विरत रहने के कारण ही सामान्य जन उनकी प्रशंसा करते हैं। आगे उन्होंने 'सम्फप्पलाप', अर्थात् निरर्थक प्रलाप से विरत रहने का उल्लेख किया[2]। इस 'सम्फप्पलाप' पद की व्याख्या दीघनिकाय की अट्ठकथा (अर्थकथा) 'सुमङ्गलविलासिनी' में आचार्य बुद्धघोष ने इस प्रकार से की है— "अनत्थविञ्ञापिका कायवचीपयोग-समुट्ठापिका अकुसलचेतना····सम्फप्पलापो····तस्स द्वे सम्भारा—भारत-युद्ध-सीताहरणादिनिरत्थककथापुरेक्खारता, तथारूपी कथाकथनं

१. द्रष्टव्य, दीघनिकाय, नालन्दा, भा० १, पृष्ठ ३-४०।
२. वहीं, पृष्ठ ३-६।

च"[१]। इस प्रकार निरर्थक प्रलाप के अन्तर्गत भारतयुद्ध-कथा (महाभारत-कथा) तथा सीताहरण-कथा (रामायण-कथा) को अट्ठकथाकार बुद्धघोष ने रक्खा है। आगे चलकर मध्यम शील के वर्णन के अन्तर्गत यह आया है कि जिस प्रकार अन्य श्रमण तथा ब्राह्मण इस प्रकार की व्यर्थ अथवा तिरश्चीन कथाओं में लगे रहते हैं, जैसे— राजकथा, चोरकथा, महामात्यकथा, सेनाकथा, भयकथा, युद्धकथा....आदि; उस प्रकार से श्रमण गौतम ऐसी व्यर्थ कथाओं में नहीं लगा रहता। अतः लोग उसकी प्रशंसा करते हैं[२]। यहाँ पर हम देखते हैं कि इस सन्दर्भ में 'युद्धकथा' शब्द आया है। 'सुमङ्गलविलासिनी' में ही इसकी व्याख्या आचार्य बुद्धघोष इस प्रकार से करते हैं— "युद्धे पि भारतयुद्धादीसु असुकेन असुको एवं मारितो एवं विद्धो ति कामस्सादवसेन कथा तिरच्छानकथा"[३]। 'सुमङ्गलविलासिनी' के थाई (स्यामी) संस्करण में 'भारतयुद्धादीसु' के स्थान पर 'भारतरामयुद्धादीसु' पाठ है[४] जो स्पष्ट रूप से महाभारत-कथा तथा रामायण-कथा इन दोनों की ओर इङ्गित करता है।

भारतीय वाङ्मय के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक विन्टरनित्स ने यह स्थापना करते हुए कहा कि बौद्ध पालि त्रिपिटक में महाभारत अथवा रामायण का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, उसी स्थल पर यह पाद-टिप्पणी दे दी है कि 'युद्धकथा' का अर्थ अथवा अभिप्राय यदि रामायण अथवा महाभारत प्रारम्भिक त्रिपिटक युग में ही अभिप्रेत होता तो मूल में ही इन दोनों नामों का उल्लेख होता और मात्र युद्धकथा कह कर न छोड़ दिया जाता[५]। पर उनका यह कथन पूर्णतया भ्रान्ति-युक्त एवं निरर्थक है, क्योंकि ऐसा न करने का तो कारण स्वयमेव स्पष्ट ही है कि उक्त बौद्ध कथन में इन विशिष्ट कथाओं के प्रति किसी भी प्रकार के आदर-भाव की सम्भावना ही नहीं है। जिसे निरर्थक प्रलाप अथवा तिरश्चीन

---

१. द्रष्टव्य, सुमङ्गलविलासिनी, नालन्दा, भा० १, पृष्ठ ९३-९४।
२. द्रष्टव्य, दीघनिकाय, नालन्दा, भा० १, पृष्ठ ६।
३. द्रष्टव्य, सुमङ्गलविलासिनी, नालन्दा, भा० १, पृष्ठ १०७।
४. वहीं।
५. द्रष्टव्य, एम० विन्टरनित्स, हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भा० १, पृष्ठ ४७१, टि० ४।

कथा कहा जा रहा हो, उसके प्रति गौरवबुद्धि कैसे हो सकती है और ऐसा न होने पर मूल में इनके नामोल्लेख करने का प्रसङ्ग ही नहीं उठता।

यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि आचार्य बुद्धघोष का समय पांचवी शताब्दी है और उस समय तक रामायण तथा महाभारतादि ग्रन्थों की प्रतिष्ठा हो चुकी थी, अतएव उनके द्वारा इस प्रकार का व्याख्यान प्रस्तुत हुआ, तो इसका उत्तर यह है कि बौद्ध परम्परा यह मानती है कि सम्राट् अशोक से पूर्व हुई बौद्ध सङ्गीतियों में मूल पालि त्रिपिटक के साथ उसको अट्ठकथाओं का भी सङ्गायन हुआ था और अशोक के समय पाटलिपुत्र में हुई तृतीय सङ्गीति के सन्दर्भ में अशोक के पुत्र महेन्द्र अपने साथ मूल त्रिपिटक तथा उसकी अट्ठकथाओं को सिंहल द्वीप ले गये थे। कालान्तर में उनका सिंहली अनुवाद प्रस्तुत किया गया और बाद में आगे चल कर आचार्य बुद्धघोष ने इनका सिंहली भाषा से पालि अथवा मागधी भाषा में अनुवाद-मात्र किया, कोई नवीन रचना नहीं की। 'सुमङ्गलविलासिनी' के प्रारम्भ में ही आचार्य बुद्धघोष ने इस तथ्य को प्रकट किया है[1]।

इस प्रकार दशरथजातक से स्पष्ट और प्रामाणिक उल्लेख युद्धकथा के रूप में स्वयं त्रिपिटक में प्राप्त है। दशरथजातक तो स्वयं ही अट्ठकथा का भाग है। जातक की मात्र गाथाएँ मूल त्रिपिटक का भाग मानी जाती हैं, शेष कथा अट्ठकथा में दी गयी है। अतः ऊपर दिये गये 'युद्ध-कथा' शब्द तथा उसके व्याख्यान के सन्दर्भ में डा० वेबर का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है कि दशरथजातक मात्र में रामकथा का मूल स्रोत सुरक्षित है। युद्धकथा का सन्दर्भ यह व्यक्त करता है कि राम-रावण के युद्ध की कथा रूप में रामकथा की प्रतिष्ठा समाज में उस समय हो चुकी थी और काफी समय तक रामकथा अथवा इस कथा को व्यक्त करने वाले काव्य को सीताहरण कहा जाता रहा। अतः सीताहरण तथा रावण युद्ध की ओर पूर्व में ही 'युद्धकथा' से निदर्शन विद्यमान रहने के कारण होमर के काव्य से इसके आने का प्रश्न ही नहीं उठता।

डा० याकोबी भी वेबर की भाँति ही रामकथा को दो भागों में बांट कर उसके दो आधारों को स्थापित करते हैं। उनके अनुसार प्रथम

---

१. द्रष्टव्य, सुमङ्गलविलासिनी, नालन्दा, भा० १, पृष्ठ ३।

भाग अयोध्या की घटनाओं से सम्बन्ध रखता है और इसमें दशरथ प्रधान नायक है तथा द्वितीय भाग में दण्डकारण्य तथा रावणवध-सम्बन्धी कथा मिलती है और इसका मूल स्रोत वेदों की देवता-सम्बन्धी कथाएँ प्रतीत होती हैं[१]।

श्री बुल्के को डा० याकोबी का मत तर्क-सङ्गत प्रतीत नहीं होता[२], क्योंकि उन्होंने अपने मस्तिक में यह निश्चित धारणा बना ली है कि रामकथा का कोई वैदिक आधार नहीं है और डा० याकोबी उसका वैदिक आधारमात्र ही नहीं देते, अपितु यह भी मानते हैं कि ईरानीय 'रामहुवास्त्र' तथा भारतीय राम का मूल स्रोत एक ही है। हापकिन्स के मतानुसार महाभारत के शान्तिपर्व में जो रामकथा प्राप्त होती है, उससे डा० याकोबी के मत की पुष्टि होती है[३]।

दिनेशचन्द्र सेन भी रामकथा के दो प्रधान मूल स्रोतों की कल्पना करते हैं और ये दो स्रोत उत्तरी भारत तथा दक्षिणी भारत के हैं। प्रथम के अन्तर्गत वे दशरथजातक को रखते हैं तथा द्वितीय के अन्तर्गत रावण-सम्बन्धी आख्यान को तथा इन दोनों के संयोग से रामकथा की उत्पत्ति को प्रस्तुत करते हैं[४]। पर इनके विचार भी श्री वेबर की भाँति ही हैं जिनके विरुद्ध पूर्व में तर्क प्रस्तुत किये जा चुके हैं और यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि युद्धकथा के रूप में दशरथजातक के पूर्व ही रामकथा प्रतिष्ठित हो चुकी थी। रावण-सम्बन्धी स्वतन्त्र आख्यानों को सिद्ध करने के लिये सेन ने बौद्ध तथा जैन वाङ्मय का सहारा लिया है, जिनके विषय में यह कहा जा सकता है कि उन स्रोतों के बहुत ही पूर्व रामकथा प्रतिष्ठित हो चुकी थी। साथ ही बौद्धों तथा जैनों में रामकथा के प्रति कोई गौरवबुद्धि नहीं थी और वे उसे अपने अनुसार तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करना चाहते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रामकथा के मूल स्रोत के रूप में वैदिक वाङ्मय को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं दृष्टिगोचर होती। वाल्मीकि स्वयं ही उसको वेद का उपबृहंण मानते हैं। उनकी यह स्पष्टोक्ति है—

---

१. द्रष्टव्य, हर्मन याकोबी, दास रामायण, पृष्ठ ८६।

२. द्रष्टव्य, फादर कामिल बुल्के, रामकथा, पृष्ठ १०५।

३. वहीं, पृष्ठ १०६। ४. वहीं, पृष्ठ १०८।

"रामायणं महाकाव्यं सर्ववेदेषु सम्मतम् ।
सर्वपापप्रशमनं दुष्टग्रहनिवारणम्" ॥ (१।१६)

अर्थात् रामायण नामक महाकाव्य समस्त वेदों की सम्मति के अनुकूल है। वह समस्त पापों का नाश तथा दुष्ट ग्रहों की बाधा का निवारण करने वाला है।

यही सिद्धान्त मन्त्ररामायण द्वारा भी स्थापित किया गया है जिस पर हम नीचे स्वतन्त्र रूप से विचार प्रस्तुत करेंगे। "गाथानृतं नाराशंसी" उल्लेख जो काठकसंहिता (१४।५) में है उसका तात्पर्य यही है कि ये वेदरूप ही हैं। मनुष्यों तथा उनके दान आदि के स्तुतिरूपी मन्त्र नाराशंसी होते हैं; नरों की आशंसा (प्रशंसा) ही नाराशंसी है। ये सब सुखावबोधार्थ कल्पित आख्यायिका रूप होते हैं, इसीलिये स्वार्थ में ये अनृत कहे जाते हैं, अर्थात् वस्तुतः किसी नर के वर्णन में उनका तात्पर्य नहीं होता है। ये भी अपौरुषेय ही होते हैं। सिद्धान्तभूत गाथाएँ अनृत नहीं हैं। यतः वेदों में वास्तविक इतिहास या किसी घटना का उल्लेख मानने से वेद की अपौरुषेयता भङ्ग होती है, अतः वहां विद्यमान घटना-सम्बन्धी गाथाएँ गुणवाद तथा अर्थवादमात्र मानी जाती हैं। उनका तात्पर्य ही सत्य होता है और उनका वाच्यार्थ अनृत है, यही 'गाथानृतम्' कहने का अभिप्राय है।

मन्त्ररामायण : भारतीय सनातन परम्परा में वाल्मीकि रामायण तथा पुराणों आदि का प्रामाण्य उनके वेदमूलक होने के ही कारण है और उन सभी को यह परम्परा वेद के व्याख्यान-स्वरूप में ही मानती है। भारतीय परम्परा के मनु तथा व्यास आदि के मतानुसार वेद अनादि माने जाते हैं तथा आधुनिक इतिहासकार भी वेद को संसार की सबसे प्राचीन पुस्तक के रूप में ग्रहण करते हैं। वाल्मीकि रामायण का स्पष्ट उद्घोष है—

"कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ राजपुत्रौ यशस्विनौ ।
भ्रातरौ स्वरसम्पन्नौ ददर्शाश्रमवासिनौ ॥
स तु मेधाविनौ दृष्ट्वा वेदेषु परिनिष्ठितौ ।
वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः ॥
काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत् ।
पौलस्त्यवधमित्येवं चकार चरितव्रतः" ॥ (वा.रा. १।४।५-७)

अर्थात् राजकुमार कुश और लव दोनों भाई धर्म के ज्ञाता और यशस्वी थे। उनका स्वर बड़ा ही मधुर था और वे मुनि के आश्रम पर ही रहते थे। उनकी धारणा-शक्ति अद्भुत थी और वे दोनों ही वेदों में पारङ्गत हो चुके थे। भगवान् वाल्मीकि ने उन्हें मेधावी देख कर वेदार्थ का विस्तारपूर्वक ज्ञान कराने के लिये उन्हें सीता के चरित्र से युक्त सम्पूर्ण रामायण नामक महाकाव्य का, जिसका दूसरा नाम पौलस्त्य-वध अथवा दशाननवध था, अध्ययन कराया।

इस उद्धरण से यह पूर्णरूप से स्पष्ट है कि वेदार्थ के विस्तार के लिये ही रामायण की रचना हुई। मन्त्ररामायण में भी वाल्मीकि रामायण के इस वचन को उद्धृत करने के साथ ही अगस्त्यसंहिता के वचन को उद्धृत करते हुए इसके लेखक नीलकण्ठ कहते हैं—"तथा रामायणस्य वेदत्वोक्त्या प्रत्यक्षवेदमूलतत्त्वोपपादकम्—

"वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना।
तस्माद्रामायणं देवि वेद एव न संशयः"॥

इत्यगस्त्यसंहितावचनम्.....[१]।

अर्थात् यह अगस्त्यसंहिता का वचन है कि वेदवेद्य परमात्मा जब दशरथनन्दन राम के रूप में प्रकट हुए तब साक्षात् वेद भी रामायण के रूप में महर्षि प्राचेतस के मुख से अवतीर्ण हुए। इसलिये हे देवि, इसमें संशय नहीं कि रामायण वेद ही है।

इससे यह स्पष्ट है कि नीलकण्ठ के समय में भी रामायण अथवा रामकथा के वेदमूलकत्व के सन्दर्भ में प्रश्न उपस्थित हुआ था और इसके समाधान के लिये अर्थात् रामकथा की वेदमूलकता सिद्ध करने के लिए उन्हें मन्त्ररामायण नामक ग्रन्थ की रचना करनी पड़ी।

मन्त्ररामायण के रचयिता नीलकण्ठ का पूरा नाम नीलकण्ठ चतुर्धर (आधुनिक भाषा में चौधरी) है। ये महाराष्ट्र के ब्राह्मण विद्वान् थे। इनके पिता का नाम गोविन्द सूरी तथा माता का नाम फुल्लाम्बिका था और गोदावरी पर स्थित कूर्परग्राम के ये निवासी थे। आजकल यह स्थान बम्बई राज्य के अहमदनगर जिले में स्थित है और इसका आधुनिक नाम कोपरगाँव है। वहाँ से आकर ये काशी में बस गये और

---

१. द्रष्टव्य, मन्त्ररामायण, पृष्ठ २।

यहीं पर इन्होंने महाभारत पर अपनी प्रख्यात टीका 'भारतभावप्रदीप' की रचना की, जो विद्वानों में नीलकण्ठी के नाम से विख्यात है। इस टीका को उन्होंने सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में लिखा था[1]।

महाभारत पर लिखी गयी अपनी इस प्रसिद्ध टीका के प्रारम्भ में ही उन्होंने यह व्यक्त किया है कि इसके लिखने के पूर्व देश के विभिन्न भागों से उन्होंने मूल ग्रन्थ महाभारत की अनेक पाण्डुलिपियों को मँगाया था और उन्हें देखते हुए ही मूल के सर्वोपयुक्त पाठ का निर्धारण किया था, साथ ही इस सन्दर्भ में प्राचीन व्याख्याकारों की व्याख्याओं का भी अनुसरण किया था—

"बहून् समाहृत्य विभिन्नदेश्यान् कोशान् विनिश्चित्य च पाठमग्रघम्।
प्राचां गुरूणामनुसृत्य वाचम् आरभ्यते भारतभावदीपः"[2]॥

इस सन्दर्भ में स्थान-स्थान पर वे पाठ-भेदों की ओर तथा अनेक पाण्डुलिपियों में प्राप्त अधिक पाठ की ओर इङ्गित करते हैं और ऐसा लगभग १२५ स्थानों में हुआ है। आज भी विभिन्न पाण्डुलिपियों का परीक्षण करने पर पाठ-भेदों के सम्बन्ध में हमें वही सामग्री प्राप्त होती है, जिसका निदर्शन इन्होंने अपनी टीका में किया है। इन पाठ-भेदों के सम्बन्ध में अपने से पूर्व विद्यमान टीकाकारों की टीकाओं के उद्धरण भी प्रमाण-स्वरूप ये उद्धृत करते हैं और यह इनका वैशिष्ट्य महाभारत के प्रचलित मूल ग्रन्थ के सम्बन्ध में सूचना प्रस्तुत करने की दिशा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भण्डारकर ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, पूना, से प्रकाशित महाभारत में नीलकण्ठ द्वारा उद्धृत ऐसे पाठों को पाद-टिप्पणी में दिया गया है और ये पर्याप्त संख्या में हैं। विभिन्न पर्वों पर अपनी व्याख्या प्रस्तुत करने के प्रसङ्ग में इन्होंने अपने से पूर्व टीकाकारों में से देवबोध, विमलबोध, अर्जुन मिश्र, रत्नगर्भ तथा सर्वज्ञनारायण आदि का नामोल्लेखपूर्वक स्मरण करते हुए उनके द्वारा स्वीकृत मूल के पाठों को उद्धृत किया है—जैसे—महाभारत के १।१५८।१४ पर व्याख्या करते हुए ये लिखते हैं—

---

१. द्रष्टव्य, आदिपर्वन्, वी० एस० सुकथंकर द्वारा सम्पादित, पूना, प्रोलेगोमेना, पृष्ठ ६५।

२. वहीं।

"न नंहसा: शृङ्गिणो वा न च देवाङ्गनस्रजः ।
कुबेरस्य यथोष्णीषं किं मां समुपसर्पथ" ॥

"इति प्राचीनः पाठो देवबोधादिभिर्व्याख्यातत्वात्"। कहीं-कहीं इनके द्वारा इङ्गित किये गये ये पाठ तत्तत् टीकाओं में सम्प्रति प्राप्त नहीं होते और इन्हें देखते हुए विद्वानों की यह भी धारणा है कि मात्र सम्मान-प्रदर्शन हेतु तो ऐसा नहीं हुआ है ? साथ ही देवबोध को ये 'प्राचीन' कहते हैं और ऐसा तभी सम्भव प्रतीत होता है जब इनके तथा देवबोध के बीच कम से कम चार या पाँच शताब्दियों का अन्तर काल की दृष्टि से रहा हो। देवबोध की ओर निर्देश आगे भी है—"मधुपर्किकाः मधुपर्क-समये पठन्त इति देवबोधः"। इसी प्रकार दूसरे व्याख्याकार अर्जुन मिश्र को उद्धृत करते हुए ये कहते हैं—"जारूथ्यान् त्रिगुणदक्षिणान् इत्यर्जुन मिश्रः।" किन्हीं-किन्हीं पाण्डुलिपियों की ओर सङ्केत 'क्वचित्पुस्तके' लिखकर किया गया है—"अत्र यत्तद्देवा ददुरित्यादिना त्रिपथगां नदीमित्यन्तो नारायण्युपाख्यानग्रन्थोऽध्याय-द्वयात्मकः क्वचित्पुस्तके पठ्यते"। अर्जुन मिश्र ने भी देवबोध को उद्धृत किया है और इससे हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँच सकते हैं कि काल की दृष्टि से इन टीकाकारों में यह क्रम बनता है—देवबोध, अर्जुन मिश्र, नीलकण्ठ। कहीं-कहीं नीलकण्ठ द्वारा विचित्र रूप में भी व्याख्याएँ प्रस्तुत हुई हैं[1]।

नीलकण्ठ ने इस टीका के अतिरिक्त गणेशगीता पर भी टीका लिखी थी। मन्त्ररामायण के अतिरिक्त इनका मन्त्रभागवत नामक ग्रन्थ भी अति प्रसिद्ध है, जिसमें भागवत की कथा से सम्बद्ध मन्त्र ऋग्वेद से इस प्रकार क्रमबद्ध रूप से संगृहीत हैं, जिनसे सम्पूर्ण भागवत की कथा प्रस्तुत हो जाती है और इसके ऊपर इन्होंने अपने सिद्धान्तानुसार इन मन्त्रों से भागवत की कथा निःसृत करने हेतु अपनी व्याख्या लिखी है। इनके पुत्र का भी नाम गोविन्द था, जिनके पुत्र (अर्थात् नीलकण्ठ के पौत्र) शिव ने पैठण में निवास करते हुए 'धर्मतत्त्व-प्रकाश' नामक ग्रन्थ की रचना १७४६ ई० में की थी। नीलकण्ठ की 'शिव-ताण्डव-टीका' का रचनाकाल १६८० ई० तथा 'गणेशगीता' की टीका का रचनाकाल १६९३ ई० है। 'भारत-भाव प्रदीप' के नाना हस्तलेखों

---

१. वहीं, पृष्ठ ६५-६७।

का समय १६८७ ई० से लेकर १६९५ ई० है, अतः इनका समय १६५० ई०–१७०० ई० मानना उचित प्रतीत होता है[1]।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, मन्त्ररामायण में नीलकण्ठ ने ऋग्वेद के मन्त्रों को देते हुए उनसे पूरी रामकथा अथवा रामायण कथा को निकाला है और यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पूरी रामकथा इन वैदिक मन्त्रों में विद्यमान हैं। इन मन्त्रों का सङ्कलन भी इन्होंने स्वयं किया है और उनसे सम्पूर्ण रामकथा को व्यक्त करनेवाली 'मन्त्र-रहस्य-प्रकाशिका' नामक व्याख्या लिखी है, जैसा कि इस व्याख्या के अन्त में वे स्वयं कहते हैं— "इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणमर्यादाधुरन्धर-चतुर्धरवंशावतंस-गोविन्दसूरिसूनोः श्रीनीलकण्ठस्य कृति स्वोद्धृतमन्त्र-रामायणव्याख्या मन्त्ररहस्यप्रकाशिकाख्या समाप्तिमगमत्"। इस प्रकार से इन वैदिक मन्त्रों पर इनके द्वारा प्रस्तुत इस व्याख्या का नाम 'मन्त्ररहस्यप्रकाशिका' है। इस प्रकार मन्त्रों के सङ्कलन तथा उन पर व्याख्या प्रस्तुत करते हुए बालकाण्ड से लेकर उत्तरकाण्ड तक की समस्त कथा को इन वैदिक मन्त्रों में विद्यमान प्रदर्शित किया है। ये मन्त्र १५७ हैं। इनके द्वारा प्रस्तुत व्याख्या-स्थलों के कुछ अंशों का सारांश इस प्रकार—

मन्त्र ७ की व्याख्या यह प्रकट करती है कि वाल्मीकि रामायण आर्ष काव्य है। महर्षि वाल्मीकि ने वेदों के छन्दों को अनुष्टुप् छन्द में समन्वित करते हुए प्रायः समस्त रामायण की रचना की है। इसमें वेद की ऋचाओं को ही प्रमाण माना गया है— अधिकं समस्वरन् श्रुतिं दिव्यां दृष्टिं वा प्राप्य रम्यं काव्यं कृतवन्त इत्यर्थः। अर्थात् श्रुति के अनुसार अथवा दिव्य दृष्टि को प्राप्त करके श्री वाल्मीकि के द्वारा रम्य (रामायण) काव्य की रचना हुई। इस प्रकार महर्षि वाल्मीकि ने वेद की ऋचाओं को ही प्रमाण मानकर जिसकी (रामायण की) रचना की तथा शोक व्यक्त किया ('मा निषाद·····' इत्यादि के द्वारा), एवं श्रुति अथवा नारदोपदिष्ट महापुरुष (श्रीराम) का उन ऋचाओं के अनुरूप अनुष्टुप् छन्द द्वारा ही संस्मरण कर वर्णन किया, वही श्लोक-रूप से

---

१. द्रष्टव्य, बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७०।

रामायण कहा गया है। यहाँ अनुशरण, शोक और स्मरण, ये तीन वाल्मीकि रामायण के श्लोकों के श्रुतिमूलक कारण हैं।

रभसस्येत्यादि मन्त्र में 'दुष्कृत' यह अन्तिम पद है। इसमें बत्तीस वर्ण हैं। कार्यहानि को देखकर इस मन्त्र के द्वारा शोक व्यक्त है और शोक के कारण को शाप-रूप प्रतिफल प्राप्त हुआ है। इस मन्त्र का भाव ही 'मा निषाद.....' इत्यादि श्लोक में व्यक्त हुआ है। यह श्लोक अनुष्टुप् छन्द में है। इस छन्द में गायत्री और पंक्ति ये दो छन्द सन्निविष्ट हैं। जगती छन्द के भी आ जाने से यहाँ अनुष्टुप् छन्द ही लिया जायेगा। अथवा अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् तथा जगती छन्दों के प्रति पादों का सन्निवेश अनुष्टुप् छन्द में ही हुआ है। अतः सभी छन्दों का मूल अनुष्टुप् छन्द हुआ। इसी छन्द को प्राचेतस् ऋषि वाल्मीकि ने आदि-काव्य का आधार बनाकर वेदमूलक रामायण की रचना की है।

मन्त्र संख्या १० द्वारा यह व्यक्त किया गया है कि वेद का परम तत्त्व 'ऋत' एवं सत्य है। वाल्मीकि ने रामकथा के रूप में ऋत एवं सत्य तत्त्व को प्रतिष्ठित करते हुए अनृत एवं असत् तत्त्वों की निन्दा प्रस्तुत की है। रामायण या रामकथा परम तत्त्व को प्राप्त कराने में तन्तुरूप से कार्य करती है। विष्णु की स्तुति के लिये प्रयुक्त शब्द (वायु रूप) कवियों के जिह्वाग्र में स्थित भोग और मोक्षसाधिका विष्णु की माया के द्वारा रामकथा के रूप में अत्यन्त विस्तृत है। इस मन्त्र में 'वरुणस्य' के तात्पर्य वरुणपुत्र प्राचेतस् नाम से अभिहित वाल्मीकि ही हैं। 'धीर' शब्द से भी इन्हीं वाल्मीकि का अभिधान किया गया है। अतः उन्होंने समग्र रूप से रामकथा का वर्णन किया है।

इसी प्रकार मन्त्र संख्या २३ को सीता का स्तुति विषयक सिद्ध किया गया है। 'सीता' शब्द की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए नीलकण्ठ कहते हैं— "स्यति सर्वेषां रक्षसामन्तं करोतीति सीता", अर्थात् जो सभी राक्षसों का नाश कर दे वह सीता है। वे आगे कहते हैं— ऐसी सीता हमारे ऐश्वर्य को बढ़ाती हुई प्रतिपक्ष (अशुभ कर्मों) का नाश करें।

मन्त्ररामायण के रचयिता अपने समालोचकों को लक्ष्य करके कहते हैं— "नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति इति न्यायेन त्वयि

वेदार्थानभिज्ञे सति न रामायणमपराद्ध्यति"[1]।

इस प्रकार मन्त्ररामायण के कर्त्ता ने सम्पूर्ण रामकथा तथा इसके पात्रों का निदर्शन वैदिक वाङ्मय से कराया है।

इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में रामरक्षास्तोत्र उद्धृत हैं और उसकी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थ के प्रयोजन को रामकथा का वेदमूलकत्व सिद्ध करना ही अभिहित किया गया है। "इसके प्रारम्भ में रामायण के गायत्री-स्वरूप का उल्लेख है। गायत्रीरामायण, विद्यारण्य कृत रामायण रहस्य, तत्त्वसंग्रहरामायण, गोविन्दराज-कृत भूषणटीका आदि रामायण के गायत्री-स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। तर्क यह है कि रामायण के २४००० श्लोकों में प्रत्येक सहस्र के प्रथम श्लोक का पहला अक्षर उद्धृत करने से गायत्री का मन्त्र बन जाता है—

'प्रतिश्लोकसहस्रादौ मन्त्रवर्णाः समुद्धृताः।'

किन्तु वास्तव में कोई भी गायत्रीरामायण के प्रत्येक सहस्र समूह का प्रथम श्लोक समुद्धृत नहीं करता। विद्यारण्य ने वाल्मीकि रामायण के प्रथम सर्ग को भी गायत्री-स्वरूप कहा है—

"गायत्र्याश्च स्वरूपं तद्रामायणमिति स्मृतम्"[2]।

नीलकण्ठ द्वारा रचित इस ग्रन्थ के विद्वान् सम्पादक डा० राम कुमार राय हैं। उन्होंने प्रत्येक वैदिक मन्त्र के सन्दर्भ दे दिये हैं, साथ ही मन्त्ररहस्य-प्रकाशिका व्याख्या के अनुसार उन मन्त्रों का हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत कर दिया है। इससे यह ग्रन्थ अत्यन्त बोधगम्य बन गया है। मन्त्ररामायण का संस्करण आज से बहुत पहले श्री वेङ्कटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, से मुद्रित हुआ था और यह कार्य इतना पहले हुआ था कि इसकी प्रतियाँ अत्यन्त दुर्लभ हो गयीं थी तथा विद्वत्वर्ग इसे भूल सा गया था कि आज से कई शताब्दी पूर्व नीलकण्ठ ने रामकथा अथवा रामायण की वेदमूलकता प्रतिपादित करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया था। प्रस्तुत संस्करण इस कमी को हटाने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

आशा है मन्त्ररामायण का यह संस्करण विद्वानों द्वारा आदृत होगा।

वाराणसी, ७ जनवरी १९८८ लक्ष्मीनारायण तिवारी

---

१. द्रष्टव्य, मन्त्ररामायण, पृष्ठ ६।

२. द्रष्टव्य, फादर कामिल बुल्के, रामकथा, पृष्ठ १७४-१७५।

॥ श्रीः ॥

श्रीजानकीवल्लभो जयतितराम्।

अथ मन्त्ररामायणम्

सटीकम् ।

रामायणद्रुमं नौमि रामरक्षानवांकुरम् ।
गायत्रीबीजमाम्नायमूलं मोक्षमहाफलम् ॥१॥

राम रक्षा रूपी नवीन अंकुर वाले, गायत्री बीज वाले, वेदरूपी मूलवाले और मोक्ष रूपी महान फलवाले रामायण रूपी वृक्ष को मैं नमस्कार करता हूं।

ऐसा कहा जाता है कि महर्षि वाल्मीकि ने रामायण में चौबीस सहस्र श्लोक गायत्रीमंत्र के २४ अक्षरों के आधार पर संगृहीत किये हैं। रामायण के वेदत्व के विषय में अगस्त्य संहिता आदि प्रमाण हैं। गायत्री मंत्र में सविता देवता की स्तुति की गयी है। सविता को भगवान नारायण की ज्योति भी कहा जाता है। भगवान के नानारूपों में अवतार लेकर क्रीडा करने वाले रामादि रूपों की रामायण में उपासना की गयी है और यह आवागमन से रहित कैवल्य की ओर ले जाने वाला है।

अत्र रामरक्षायाः रामायणद्रुमांकुरत्वं स्पष्टमवगम्यते, तत्स्थानां राघवादिपदानां क्रमेण रामायणार्थसूचकत्वात् तस्याः गायत्रीबीजत्वं वेदमूलत्वं चोपपादनीयम् तेन रामायणस्यापि तदुभयं सिद्धयति। अत एव रामायणे चतुर्विंशतिसाहस्र्यां चतुर्विंशतिगायत्र्यक्षराणि वाल्मीकिना संगृहीतानीत्यभियुक्तप्रसिद्धं

संगच्छते । तथा रामायणस्य वेदत्वोक्त्या प्रत्यक्षवेदमूलतत्त्वोपपादकम् 'वेदवेद्ये परे पुंसिजाते दशरथात्मजे । वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ तस्माद्रामायणं देवि वेद एव न संशयः" इत्यगस्त्यसंहितावचनम् "स तु मेधाविनौ दृष्ट्वा वेदार्थपरिनिष्ठितौ । वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः ॥ काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्" इति तस्य वेदोपबृंहणप्रयोजनकत्वं प्रतिपादयदार्षं वचनं च संगच्छते । तत्र गायत्र्यर्थस्तावत्सवितुः ब्रह्माण्डवृक्षप्रसवभूमेः तत् प्रसवितृरूपं भूस्थानीयं वरेण्यं वरणीयं मोक्षकामैर्ब्रह्माण्डवृक्षप्रविलापनेनानुसर्तव्यम् एवं च "तदिति वा एतस्यमहतो भूतस्य नाम भवति" इति श्रुतेस्तत्पदादिते ब्रह्मणि सवितृपदेन कार्यमात्रमध्यारोप्य वरेण्यपदेन तदपोह्य निष्प्रपञ्चं ब्रह्मणः पारमार्थिकं रूपं निरूपितं तथा तस्यैव सवितुर्भर्गः आविर्गतिरस्येति व्युत्पत्त्या सूर्यमण्डलान्तःस्थं नारायणाख्यं ज्योतिः "य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं मायाविग्रहमुपास्य निर्दिष्टं धीमहीत्यनेनान्वयात् तथा देवस्येति तस्यैव ब्रह्माण्डान्तर्नानावतारैः क्रीडतो रामकृष्णादिरूपं तृतीयं रूपमुक्तं तथा धीमहीति विरोधपूर्वकं स्वार्थमुपयार्थमीश्वरार्थं चेति चतुर्धा भजनं दर्शितं तथा तृतीयपादे बहिर्मुखस्वभावायाबुद्धेः अन्तर्मुखतया प्रकर्षेण प्रेरणे प्रत्यगात्मावसाने कैवल्यरूपेप्यस्य हेतुत्वप्रदर्शनेन तस्यैव सकलकर्मोपास्तिफलप्रयोजकत्वमुक्तम् एवं च गायत्र्यां काण्डत्रयं दर्शितं तथा च मैत्रायणीश्रुतिः—"तत्सवितुर्वरेण्यमित्यसौ वा आदित्यः सविता स वा एवं प्रवरणीय आत्मकामेनेत्याहुर्ब्रह्मवादिनः" इति । भर्गोदेवस्य धीमहीति सविता वै देवस्ततोयोस्य भर्गस्तं चिन्तयामीत्याहुर्ब्रह्मवादिन इति । धियो योनः प्रचोदयादिति बुद्धयो वै धियस्ता योस्माकं प्रचोदयादित्याहुर्ब्रह्मवादिन." इति अत्रात्मकामेन प्रवरणीय इति सवितुः प्रत्यगात्मत्वं ज्ञानकाण्डार्थं उक्तः चिन्तयामीति चिन्तायोग्यत्वमुपासनाकाण्डार्थं उक्तः । धिय इत्यनेकाकारधीप्रेरकत्वं कर्मकाण्डार्थं उक्तः तत्राद्य उपेयः परो सन्निकृष्टविप्रकृष्टौ तत्प्राप्त्युपायौ । एवं वेदमातुर्गायत्र्याः काण्डत्रयात्मकत्वेन तज्जानां वेदानां तन्मूलकानां रामायणादीनां च तथात्वं ज्ञेयम् एत एवार्था राघवादिविंशतिनामभी रामरक्षायामबन्धार्थद्वारा प्रदर्श्यन्ते । तथाहि :—

शिरो मे राघवः पातु भालं दशरथात्मजः ।
कौशल्येयो दृशौ पातु विश्वामित्रप्रियः श्रुती ॥ १ ॥
घ्राणं पातु मखत्राता मुखं सौमित्रिवत्सलः ।
जिह्वां विद्यानिधिः पातु कण्ठं भरतवन्दितः ॥ २ ॥

मेरे शिर की रक्षा राघव करें, मस्तक की रक्षा दशरथपुत्र करें। कौशल्यापुत्र मेरे नेत्रों की रक्षा करें। विश्वामित्र के प्रिय मेरे कानों की रक्षा करें। यज्ञ के रक्षक मेरी नासिका की रक्षा करें। मुख की रक्षा सौमित्रिवत्सल करें। जिह्वा की रक्षा विद्यानिधि करें, तथा भरत से पूजित (राम) मेरे कण्ठ की रक्षा करें।

रंघति नाशं गच्छतीति रघुः व्यष्टिसमष्टिरूपो अन्नमयःकोशःतत्र विदितो राघवःब्रह्माण्डाभिमानी मम ब्रह्माण्डरूपं शिरः पातु १ स एव दशरथस्य दशभि-रिन्द्रियाश्वैर्युक्तस्य मनोमयकोशरूपस्य आत्मैवात्मा कार्यं प्राणमयः कोशस्तज्जः तेन अन्नमयादान्तरः प्राणमयः ततोप्यान्तरो मनोमय इति पूर्वयोः प्रविलापनं सिद्धम्, स च वासनातन्तुसन्तानात्मा मनोमयः ब्रह्माण्डात्सृष्टिक्रमेणार्वाचीनं भालदेशं ब्रह्मलिपिस्थानं मे पातु २ कुशलैव कौशल्या स्वार्थे ष्यञ् सर्वार्थविद्योतन-समर्थाबुद्धिस्तस्यां भवः कौशल्येयो विज्ञानमयः ततोप्यान्तरः स मम दर्शनसाधने दृशौ पातु एतेन मनोमयस्याप्यपवाद उक्तः ३। विश्वस्य मित्रं निरुपाधिप्रेम-गोचरतया प्रेयान् आनन्दमयाख्य आत्मैव विश्वामित्रः तस्यापि प्रियः 'सुषुप्तोसता सोम्यतदासम्पन्नो भवति' इतिश्रुतेः प्राप्तः सन्नात्यन्तिकदुःखनिवृत्तिकरस्तदधिष्ठान-भूत आनन्दः पुच्छब्रह्मापरपर्यायो मम श्रुती स्वाधिगमद्वारभूते पातु तदेवं प्रथमेन पादेन रामे ब्रह्माण्डमारोप्य अन्त्यपादत्रयेणापोह्य च रामस्य शुद्धं रूपं गायत्री-प्रथमपादोक्तं दर्शितम् अयं चार्थः कृत्स्नोपि वेदान्त प्रसिद्ध इति मूलवाक्यानि नोदाहृतानि ४। मखत्राता अव्यभिचारेण क्रतुफलप्रदः फलमतउपपत्तेः इति न्यायादिति भावः। स मे क्रतुफलभूतदिव्यगन्धरसाद्युपलब्धिकरणं घ्राणरसना-दिकं पातु ५ सौमित्रिवत्सलः सुष्ठु मित्रं जीवपक्षिणः सखा ईश्वरः तस्यापत्यं सौमित्रिर्हिरण्यगर्भः तत्र वत्सलः तेन तत्तादात्म्यं प्राप्तानामुपासकानां अनुग्रह-कर्तृत्वयुक्तम् सौमित्रेर्मुख्यकार्यत्वात्तद्वत्सलो मे मुखं पातु ६। तावेतावन्तर्यामिसूत्रा-त्मानौ विद्यैकलभ्यौ न तु शुष्कतर्कगम्यौ इति विद्यावाप्तिद्वारभूतां मम जिह्वां विद्यानिधिः विद्यासम्प्रदायप्रवर्तकः पातु ७। विद्यापि यज्ञाद्यपूर्वप्राप्त्या "विवि-दिषन्ति यज्ञेन" इत्यादिश्रुतेः "अतो भरतैः कर्मठैर्वन्दितः शरणीकृतः भरन्ति-कर्मफलं सञ्चिन्वन्ति ते भरताः यजमानाः 'भरतमुद्धर' इतिमन्त्रलिंगात् यज्ञश्च कण्ठस्थैरेवमन्त्रैः स्तोत्रशस्त्रादिभिर्निर्वर्त्यत इति यज्ञप्रियो मे मन्त्रोच्चारणस्थानं कण्ठं पातु तदेवं यज्ञादिजन्येन पुण्येन प्राप्तोपासनामार्गः मर्गाख्यं सूत्रमीशं वा क्रममुक्तिद्वारं प्राप्नोतीति श्लोकद्वयतात्पर्यम् ॥८॥१-२॥

स्कन्धौ दिव्यायुधः पातु भुजौ भग्नेश कार्मुकः।

करौ सीतापतिः पातु हृदयं जामदग्न्यजित् ॥ ३ ॥

दोनों स्कंध प्रदेशों की रक्षा दिव्यायुध धारण करने वाले (राम) करें। धनुषभङ्ग करने वाले दोनों भुजाओं की रक्षा करें। दोनों हाथों की रक्षा सीता पति करें। हृदय की रक्षा जमदग्नि-पुत्र परशुराम को जीतने वाले करें।

मानुषभावेऽपि ऐश्वरदिव्यायुधानां शार्ङ्गादीनां धारित्वाद्दिव्यायुध आयुध-निधानस्थानभूतौ स्कन्धौ मे पातु ९। तथा भुजबलेनैव भग्नेशकार्मुको भुजौ मे पातु, अत्र ईशकार्मुकं मेरुरूपम् "रथः क्षोणीयन्ता शतधृतिरगेन्द्रोधनुः" इति त्रिपुरवधे तस्य तत्कार्मुकत्वप्रसिद्धेः। एतेन मानुषभावेऽपि महेश्वरादप्याधिक्यं दर्शितम् १०। तथा वीर्यशुल्कायाः सीतायाः करग्राही सीतापतिः करौ मे पातु, अनेन नामद्वयेन विश्वामित्रदत्ताया बलाख्याया विद्यायाः फलं शारीरं बलाधिक्यं दर्शितम् ११। अतिबलायास्तु फलं मनःसङ्कल्पमात्रेण अलौकिककार्यसाधनं तच्च जामदग्न्यजिदिति ब्राह्मं वैष्णवं च तेजो दधानस्य जामदग्न्यस्य तपोराशिवधेन स्पष्टीकृतम्। अत एव हार्दबलवान् हृदयं मे पातु तादृशबलप्रदानेनेति भावः १२। एवं तृतीयं पारमेश्वरं रूपं ब्रह्मविष्णुशिवेभ्योऽप्यधिकं मानुषभावेनीति तृतीयश्लोकेन गायत्रीस्थदेवस्येति पदस्यार्थो दर्शितः ॥ ३ ॥

मध्यं पातु खरध्वंसी नाभिं जाम्बवदाश्रयः।
सुग्रीवेशः कटिं पातु सक्थिनी हनुमत्प्रभुः ॥ ४ ॥

शरीर के मध्य भाग की रक्षा खर का वध करने वाले (राम) करें। जाम्बवान् के आश्रय मेरी नाभि की रक्षा करें। सुग्रीव के ईश्वर कटि प्रान्त की रक्षा करें। हनुमत्प्रभु अंक देश की रक्षा करें।

तस्यैव चतुर्द्धा भजनमाह मध्यमिति। खरादीनां द्वेषपूर्वकं रामं ध्यायताम् अध्यात्म्यपेक्षया श्रेष्ठत्वाद्भक्त्याद्यभावाच्च मध्यमत्वं तेषु निग्रहमुखो रामानुग्रहः सोऽपि मध्यमः, अतस्तत्कर्ता खरध्वंसी मध्यं नाभिना समसूत्रं पृष्ठप्रदेशं मे पातु १३। जाम्बवत आपत्काले स्वार्थमेव कामपूर्वकं ध्यायतः द्वेषांशाभावात्ततो-प्यान्तरत्वमतो जाम्बवदाश्रयो मे नाभिं मध्यादाभ्यन्तरं पातु १४। सुग्रीवस्य तु 'देहि मे' 'ददामि ते' इति न्यायेन पूर्वं स्वार्थसम्पत्तिः पश्चादाराधनमिति वणिग्व-द्भजतो जाम्बवदपेक्षया किञ्चिदूनत्वमतः। सुग्रीवेशो बाह्यं मे कटिं पातु १५। हनुमतस्तु केवलं निष्काममीश्वरार्थमेव भजतोऽन्तरंगत्वाच्छिशुवत्प्रियत्वेनांक-मारोपयितुं योग्यत्वात् हनुमत्प्रियो मे सक्थिनी अङ्कदेशं पातु १६। एवं व्यक्तस्य

देवस्य चतुर्विधं ध्यानं चतुर्विधभक्तकृतं चतुर्थश्लोकेन दर्शितम् ॥ ४ ॥

जानुनी सेतुकृत्पातु जंघे दशमुखान्तकः ।
पादौ विभीषणश्रीदः पातु रामोऽखिलं वपुः ॥ ५ ॥

घुटने की रक्षा समुद्र पर सेतु का निर्माण करने वाले करें। जंघाओं की रक्षा दशमुख का वध करने वाले करें। पैरों की रक्षा विभीषण को ऐश्वर्य प्रदान करने वाले करें और मेरे सम्पूर्ण शरीर की रक्षा श्रीराम करें।

अथ व्यक्तपरित्यागेनाव्यक्तालम्बनाया गतेः संसारसमुद्रसेतुरूपायाः प्रदाता सेतुकृत् जानुनी शिशोः प्रथमगतिसाधने मे पातु अनेन स्थूलदेहातिक्रम उक्तः अस्यामवस्थायां ध्यायी विदेह इत्युच्यते १७। तथा दश इन्द्रियाणि मुखानि भोगद्वाराणि यस्य स दशमुखो लिंगात्मा तस्यान्तको नाशकः प्रविलापयिता दशमुखान्तकः ईषद्‌द्वद्धांगस्य शिशोः मन्दोर्ध्वगतिसाधने जंघे मे पातु, एतेन लिंग-देहातिक्रम उक्तः अस्यामवस्थायां ध्यायी प्रकृतिलय इत्युच्यते १८। तथा विगतं भीषणं भयङ्करमज्ञानं यस्य स विभीषणो निरस्ताविद्यः तस्मै श्रीः 'एषास्य परमा सम्पत्' इति श्रुतिप्रसिद्ध आनन्दः तस्याः प्रदाता विभीषणश्रीदो निघृष्टतलतया शीघ्रगतिहेतू पादौ मे पातु, एतेनानर्थनिवृत्तिपूर्विका आनन्दावाप्तिरुक्ता, अस्या-मवस्थायां ध्यायी मुक्त इत्युच्यते १९। रामः सर्वेश्वरतया ब्रह्माण्डमंडपे रमणशीलो मम जीवन्मुक्तभावं कामयमानस्य अखिलं वपुरिति विश्वमपि शरीरं पातु समस्तयोग-प्रतिपक्षनिरासेन ब्रह्मसाक्षात्कारक्षमं करोत्वित्यर्थः २०। तदेवं ब्रह्मणि राघवपदेना-ध्यारोपितस्य प्रपञ्चस्य दशरथात्मजादिपदत्रयेणापोदितस्याधिष्ठानं प्राप्तुं ध्याना-लम्बभूतं भगवतः समष्टिरूपं व्यष्टिरूपं च द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां प्रदर्श्य व्यष्ट्युपासनां चतुर्थेन समष्ट्युपासनां पञ्चमार्द्धेन च प्रदर्श्य शेषेणानर्थनिवृत्त्यानन्दावाप्ती जीवन्मुक्तिसहिते निरूपिते इति अनेन कृत्स्नः शास्त्रार्थोऽस्तीति प्रदर्शनेन रामायण-द्रुमांकुरस्य रामकवचस्य गायत्रीबीजत्वमुपपादितम्। यथात्र कथांशः स्पष्टं सूच्यते अध्यात्मांशस्तु परोक्षवृत्त्या गम्यते, एवं रामायणे तन्मूलभूते वेदे च तदुभयं ज्ञेयम् ॥ ५ ॥

तथाहि :—"मन्त्रह्रदात्कथाकुल्या विद्याकेदारमागता ॥ मोक्ष (रस) स्य च प्रसूर्मध्ये पीयते कर्ममार्गगैः ॥१॥ इदमाम्नायते—"तुग्रो (ह) भुज्युमश्विनोदमेघे रयिन्न कश्चिन्ममृवाम वाहाः ॥ तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोद-काभिः ॥ १ ॥ तुग्रो नाम कश्चिद्राजा भुज्युसंज्ञं स्वपुत्रम् उदमेघे समुद्रे आवाहाः प्रापितवान्। तत्र दृष्टान्तः—रयिं न कश्चिन्ममृवानिति। यथा कश्चिन्मृतः पुरुषो

रयिं धनं तद्वत्। न शब्दोऽत्र उपमार्थे तं तथाभूतं भो अश्विनौ युवां नौभिः बह्वीभिर्नौकाभिः ससैन्यम् ऊहथुः तीरं प्रापयामासथुः। कीदृशीभिः—आत्मन्वतीभिः, आत्मा स्वामी विद्यते यासां ताभिः स्वीयाभिः अन्तरिक्षे गगनतुल्येऽर्णवे प्लवन्ते ताभिरन्तरिक्षप्रुद्भिः, अपोदकाभिरपगतजलाभिः इत्यश्विदेवत्यैकमणि विनियुक्तस्यास्य मन्त्रस्य याज्ञिकाभिमतोर्थः कर्मसमृद्ध्यर्थः "एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्मक्रियमाणमृगभिवदति" इति ब्राह्मणाच्च। तत्कामैरेवमेवायं व्याख्येयः। तथा "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति यइत्तद्विदुस्त इमे समासते॥" इति मन्त्रेण सर्वासामृचां सर्वेन्द्रियदेवताधिष्ठानभूतपरमव्योमशब्दितब्रह्मपरत्वावधारणात्, अतद्विदोऽध्ययननादेर्वैयर्थ्याभिधानाच्च अध्यात्मपरतयाप्ययं मन्त्रो व्याख्येयः। तदायमर्थः तुक् अपत्यं राति स्वीयत्वेन आदत्ते इति तुग्रः पुत्राद्येषणावान् भुज्यं भुंक्ते पूर्वार्जितं कर्मफलं यौति च क्रियमाणेन कर्मणा मिश्रीभवति भुज्युरात्मा तम् उदमेघतुल्ये संसारसमुद्रे प्राक्षिपत् भो अश्विनौ 'यो वैतत्काम्यसूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति स ब्रह्मवित्' इति श्रुतिप्रसिद्धौ सूत्रान्तर्यामिणौ युवामाचार्यरूपेण नौभिः "तत्त्वमसि" आदिवाणीभिः आत्मन्वतीभिरात्मैव प्रतिपाद्यो विषयो यासु ताभि.अंतरिक्षेऽनालम्बने मार्गे हार्दाकाशे प्लवन्ते सञ्चरन्ति ताभिः सगुणब्रह्मलम्बनाभिः अपोदकाभिः उनत्ति आर्द्रं करोति असंगमपि संगिनं करोतीत्युदकम् अज्ञानं तद्विरोधिनीभिरिति शेषं पूर्ववत्। अत्र कथामालम्ब्य देवता स्तूयते तत्रालंबनीभूतानां तुग्रादिपदार्थानामनित्यानां संयोगेन वेदस्यापौरुषेयत्वं "मा बाधिष्ठ"इति देवताधिकरणेऽवांतरतात्पर्येण तेषां प्रतिकल्पं समानरामरूपाणामुत्पत्तिमभ्युपगम्य व्रीह्यादिपदार्थानामिव प्रवाहानादित्वमुक्तम्। चमसाधिकरणे त्वेवंजातीयकानां कथारूपकेण ब्रह्मविद्यायां मुख्यं तात्पर्यमिति निश्चीयते। तत्र हि अजानेकां "लोहितशुक्ल कृष्णाम्" इत्यादिषु मंत्रेषु अजादिशब्दानां श्रौतार्थपरिग्रहे मंत्रस्याधिगतार्थगमकत्वेनाप्रामाण्याद्वैयर्थ्यं मा भूदिति तेषां 'न जायत' इति योगेन मूलप्रकृत्यादिप्रतिपादकत्वमाशंक्य मंडपं भोजयेत्यादौ मंडपस्थजनवन्मंडपायिनो ज्ञ(?)त्यनुपस्थानेन रूढिपूर्वकलक्षणातो योगस्य दुर्बलत्वात् छांदोग्यस्थानां रोहितादिरूपाणामन्यत्रेत्यभिज्ञानात् पराभिमतप्रकृतिग्रहणे विशेषहेत्वभावाच्च तेजोबन्नात्मिकाभूतप्रकृतिरजेवाजेति अजारूपकेणात्र प्रतिपाद्यत इति सिद्धान्तितम्, एवं रामायणस्य तन्मूलभूतानां मंत्राणां च अवांतरतात्पर्येण कथापरत्वं महातात्पर्येण विद्यापरत्वं च वक्तुं युक्तम्। ननु "सर्वे वेदा यत्पदमामनंति" इति, नामानि सर्वाणि यमाविशंति'यो देवानां नामधा एक एव' इत्यादि श्रुतिभ्यःपरमतात्पर्यविषयीभूतस्य रामस्य सर्वदेवतावाचकैः शब्दैः अभिधानं युक्तम् अवांतरतात्पर्यं तु

व्यवस्थाया आवश्यकत्वाच्चान्यदेवत्यो मंत्रो रामकथां प्रकाशयितुमीष्टे । अथ हठात्तत्परत्वं वर्ण्यते तर्हि एकस्य शब्दस्यानेकार्थता स्यात् सा चानिष्टेति चेत् । उच्यते यथा एकैव रेखा स्थानभेदात् एकदशशतसहस्रादिव्यपदेशान् लभते एवमेकमेव पदं वाक्यं वा पदांतरवाक्यांतरसमभिव्याहारादनेकमर्थं प्रत्याययति न च तावतानानार्थत्वं शब्दस्य संभवति, अपि तु वृत्तिभेद एव तथाहि एकमप्यमृतपदम् "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥" इत्यत्र कैवल्यवाचि "अपाम सोमममृता अभूम" इत्यत्र देवभाववाचि "प्रजामनुप्रजायसे तदु ते मर्त्यामृतम् इत्यत्र सन्तानवाचि दृष्टम् । यथा वा "यज्ञेन यज्ञमयजंत देवा" इति वाक्यम् "अबध्नन्पुरुषं पशुम्' इत्यव्यवहितातीतमंत्रावयवेन जीवस्य सूक्तदैवतालोचनया परमेश्वरस्य चोपस्थितेर्जीवो ब्रह्मणि प्रविलापनीय इत्यर्थं पर्यवस्यति तदेव "तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्, मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च" इत्येताभ्यां वाक्याभ्यामन्वीयमानं बर्हिःस्थेन पशुसोमादिना इन्द्राग्न्यादयो देवता यष्टव्या इति ब्रवीति तदेवाग्निर्मंथनीयानामृचां परिधानीयायां विनियुज्यमानम् "यज्ञेनैव तद्देवा यज्ञमयजंत यदग्निनाग्निमयजंत" इति ब्राह्मणे व्याख्यातमर्थं ब्रवीति तत्राध्यात्मिकार्थो मुख्यः उपेयत्वात् आधिदैविकस्तु तत्प्रत्यासन्नत्वाद-मुख्यः तृतीयस्तु संततावमृतत्ववत् ध्यान यज्ञांगभूतकर्मयज्ञांगयोरन्योर्यज्ञत्वम-तिजघन्यं भवति तथा इन्द्रादिशब्दोपि बलवता रामलिंगेनोपहितः तमिदम् इन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते 'इदि परमैश्वर्यें' इति श्रुतिस्मृतिनिर्दिष्टं मुख्यवृत्त्या स्वार्थमभिधत्ते, स एव देवतालिंगोपहितस्तत्प्रत्यासन्नं शचीपतिं ब्रवीति लक्षणया स एव पुनः "ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठेत" इति श्रुत्या गार्हपत्योपस्थाने विनियुक्तायामृचि दृष्टो गौण्या वृत्त्या गार्हपत्यमभिधत्ते । किञ्चान्यत्ररूढोपि शब्दो लिंगबलादन्यमर्थं ब्रवीति । "यथा सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यंते" इति सर्व भूतोपादानत्वलिंगाद्भूताकाशपरोपि आकाशशब्दो जगत्कारणं ब्रवीति तस्मादचान्तरतात्पर्यविषयेकथायामपि बलवल्लिङ्गोपहितोन्यदेवत्योपि मंत्रो राम मेव ब्रवीति न चानेकार्थतादोषः परिहृतत्वात् । ननु चमसाधिकरण-न्यायेन कर्मस्वविनियुक्तानामजादिमन्त्राणां कैमर्थ्याकांक्षिणामस्तु विद्यापरत्वम् तुग्रादिमन्त्राणां तु कर्मसु विनियुक्तानां निराकांक्षत्वान्न तदुच्यते मानाभावात् "सर्वे वेदा, ऋचो अक्षरे" इति श्रुत्योरपि वेदानामृचां च कर्मपरं परयापि यदाक्षरपरत्वबलसेनैकस्य तुग्रादिमन्त्रस्यार्थद्वयकल्पने प्रमाणभावं भजते नापि "यज्ञेन यज्ञम्" इत्यत्रेवात्र वाक्यान्तरसमभिव्याहारोस्ति नापि "इन्द्रो मायाभिः" इतिवदस्य विद्याप्रकरणे पुनः पुनः पाठोस्ति येन तद्वशादस्या-

पि वैयर्थ्यं स्यात् । तथा सति इषेत्वादि मंत्राणामपि तत्कल्प्यं स्यात्तेन चात्यन्तं श्रुतिषोडाकर्मकाण्डोच्छेदो स्यात् । तस्मान्मन्त्राणां रामायणमूलत्वे संभवत्यपि अध्यात्मपरत्वं न युज्यत इति चेत् । न, एकस्मिन्नेव विषये प्रतिपत्तृभेदेन प्रतिपत्तिभेददर्शनात् । तथाहि एकं रज्जुखण्डं कश्चित्सर्प इति, कश्चिद्दण्ड इति; कश्चिद्रज्जुरिति प्रत्यक्षेण प्रत्येति । एकं वा घटं कश्चिदसत्त्वेन कश्चिदनिर्वचनीयत्वेन तर्कबलात्प्रत्येति, तथा "य एषोऽक्षणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म" इति प्रजापतिवाक्यादेकमेवात्मानं देहादिविशिष्टमेवामृतादिगुणभाक्त्वेनविरोचनः प्रतिपेदे इन्द्रस्तु तत एव क्लेशेन देहत्रयातीतं तादृक्त्वेनेति दृश्यते । यास्कोपि "बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश" इत्यस्य बहुप्रजाः कृच्छ्रमापद्यत इतिपरिव्राजकाः, वर्षकर्मेति नैरुक्ता इति एकमेव निर्ऋतिपदं द्वेधा व्याचष्टे । वर्षकर्मेत्यस्य व्याख्याभूमिमापद्यत इति तत्रैव ज्ञेयम् । तस्मादस्तिप्रतिपत्तिभेदादर्थभेदो मंत्राणाम् । अत एव यास्कः स्थालीपुलाकन्यायेन कांश्चिन्मन्त्रानधिदैवतमध्यात्मं च व्याख्याय सर्वेषामचेतनदेवतानामभिरध्यात्मपरतया व्याख्यानं कर्तव्यमित्याशयेनाह—"माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयत एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवंत्यपि च सत्त्वानां प्रकृतिभिर्ऋषयः स्तुवंतीत्याहुः प्रकृतिसार्वनाम्न्याच्चेतरेतरजन्मानो भवंतीतरेतरप्रकृतयः कर्मजन्मान आत्मजन्मानः आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माश्वा आत्मायुधमात्मेषवः सर्वं देवस्य देवस्य" इति । एतदेवाभिप्रेत्य व्यासोपि आश्वमेधिकाध्यात्मे 'वृत्रेण पृथिवी व्याप्ता' इत्यारभ्य "ततो वृत्रं शरीरस्थं जघान भरतर्षभ ॥ शतक्रतुरदृश्येन वज्रेणेतीह नः श्रुतम् ॥ इति । अत्र वृत्रशतक्रतुवज्रशब्दानज्ञानजीवविवेकेषु प्रायुंक्त । वनादिरूपकेण च ब्रह्मान्यरूपयत्तत्रैव क्वचिदधिलोके दृष्टमत्यर्थं मंदाधिकारिणेऽधिदेवपरतया व्याचष्टे यथोक्तम्—"कै ये ते स्त्रियौ धाता विधाता ये च ते सिताः कृष्णाश्च तंतवस्ते रात्र्यहनी इत्यादिना । विद्वांसस्तु—"द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परिद्यामृतस्य ॥ अपुत्राग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थु." इत्यादीनामृचां संवत्सरोऽहोरात्रपरत्वेनानुवादरूपत्वं मा भूदिति इत्थं व्याचक्षते । षाडिन्द्रियाणि षडृतवः ऋतावृतौ द्वौ द्वामासाविव प्रतीन्द्रियं रागद्वेषौ प्रतिमासं द्वौ पक्षाविव प्रतिरागं प्रतिद्वेषं च पक्षद्वयं यथा धर्मे रागः शुक्लः अर्थे कृष्णः, एवं धर्मे द्वेषः, कृष्णः, अर्थे शुक्ल इति । प्रतिपक्षं पंचदश तिथयः ताश्च सूर्यचन्द्रयोः सन्निकर्षविप्रकर्षतारतम्याद्भवन्ति तत्र सूर्य आत्मा चन्द्रः षोडशकला मनोरूपी अहमर्थः कलाश्च प्राणः १ श्रद्धा २ खं ३ वायुः ४ ज्योतिः ५ आपो ६ भूः ७ इन्द्रियम् ८ मनः ९, अन्नम् १० वीर्यम् ११, तपः १२, मंत्राः १३, कर्म १४ लोकाः १५, नाम १६ च ।

तत्र नाममात्रावशिष्टं मनः सुप्तौ प्रलये च यदात्मनि सर्वाभिः कलाभिः सह निलीयते सा केवलतमोमयी अविद्या रात्रिर्दर्शः। तत्र विवेकेन यथा यथा कलानामात्मनः पृथग्भावः तथा बोधचन्द्रो वर्द्धते, या तु सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः सैव सूर्यचन्द्रयोरत्यंतविश्लेषरूपाविद्या पौर्णमासीति श्रृतस्य कर्मणः फलभूतं संसारात्मकं चक्रं तस्माद्विद्वद्दृष्ट्या ऋचां साक्षादक्षरपरत्वमविद्वद्दृष्ट्या तु परंपरयेति सिद्धम्। तदयं संग्रहः "एकैकस्मिन्यथा दर्शे प्रासादो मुहुरांतरैः सहितो दृश्यते देवेष्वेवं लोकः सुरांतरैः ॥ १ ॥ तस्मात्स्युर्देवताः सर्वाः प्रत्येकं विश्वयोनयः। अन्योन्ययोनयश्चैव यथा यास्कमुनीरितम् ॥ अतस्तासां स्तुतिः सर्वा रामस्तुतिरसंशयम् ॥ २ ॥ बलवद्रामलिंगायां यत्किञ्चिद्देवतामृतम्। रामायणानुसारेण व्याकुर्वन्नैव दुष्यति ॥३॥ विनियोगानुगो गौण्या वेदं व्याचष्ट भाष्यकृत्। तत्त्वानुगो मुख्यवृत्त्या व्याकुर्वे यास्कवत्त्वहम् ॥४॥ ननु रामायणीया कथा कस्यांचिदपि शाखायां वृत्रवधादिवन्न दृश्यतेऽतोऽस्याः श्रुतिमूलत्वमेव नास्तीति चेत्, नैष स्थाणोरपराधो यदेनमंधो न पश्यति इति न्यायेन त्वयि वेदार्थानभिज्ञे सति न रामायणमपराध्यति। ननु वेदभाष्येऽपि न रामायणकथासूचकत्वं कस्यचिदपि मंत्रस्य पश्याम इति चेत्। नैषदोषः, विनियोगानुसारिणः कर्मस्वव्युत्पादनार्थस्य-भाष्यकारीयव्याख्यानस्य निगमनिरुक्तानुसारितात्त्विकव्याख्यानादूषकत्वात्। किंचात्यल्पमिदमुक्तमायुष्मता मंत्रार्थवादैरपि कर्मणि स्वव्युत्पादनार्थमनुपपन्नोऽप्यर्थः प्रजाया अमृतत्वमात्मसाधर्पात्खननमित्यादिरुपन्यस्यते "प्रजामनुप्रजायसे तदु ते मर्त्यामृतम्" इति, प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत् इति च। एवं च कर्मस्तावकार्थवादानुसारिभाष्यकारीयं व्याख्यानममुख्यम्। अत एवोक्तं भारते "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरेत्" इति तत्र उपबृंहणं नाम एकत्र मन्त्रे तृचे सूक्ते वा दृष्टस्यार्थस्य संक्षिप्तस्य नानास्थानेषु विप्रकीर्णानां तदनुगुणानामर्थानामुपसंहारेण पुष्टिकरणम्। तच्च येन कर्ममात्रं न श्रुतं तेन कर्तुमशक्यम्, अतस्तस्मादल्पश्रुताद्वेदस्य भयं युक्तम्। भगवानपि "यामिमां पुष्पितां वाचम्" इत्यादिनाऽर्थवादानां मोहकत्वं ब्रुवन् तदनुसारिणो व्याख्यानस्यानादरणीयत्वं दर्शयति मन्त्रवर्णा अपि नीहारेण प्रावृता जल्प्या च इति अल्पो जल्पो जल्पी तुच्छार्थप्रतिपादिका वाक् तया प्रावृता इति अज्ञानेनार्थवादैश्च वञ्चिता इत्यर्थः। नन्वेवं तिष्ठतु भाष्यकारीया मर्यादा द्रव्यदेवतादिप्रकाशनद्वारा विध्यर्थं स्मारयतो मन्त्रजातस्य कथं कथासूचकत्वमुपपद्यत इति चेत् सुतरामिति ब्रूमः। तथा हि सर्वोऽपि मन्त्र आध्यात्मिकीमाधिदैविकीं वा कथामुपजीव्यैव कर्माङ्गं स्तुवन्

दिष्यर्थं स्मारयति । यथा "यत्कृष्णो रूपं कृत्वा प्राविशस्त्वं वनस्पतीन् । तत-स्त्वामेकविंशतिधा सम्भरामि सुसम्भृत्" इति मन्त्रः कृष्णाख्यब्रह्मरूपस्त्वं रूपप्रपञ्चं निर्माय स्थावरजङ्गमात्मकं तं प्रविश्य तत्र तद्वस्तुतादात्म्यापत्त्या समिद्रूपोसि ततो हेतोः त्वाम् एकविंशतिधा सम्भरामीति "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, तदनु प्रविश्य सच्चित्यच्चाभवत्" इति ब्राह्मणोक्तकथाप्रदर्शनपूर्वकं समिधां कृष्णभाव-मापादयत् तासां सम्भरणं स्मारयति । यथा वा "यस्य रूपं बिभ्रदिमामविन्द-द्गुहां प्रविष्टां सरितस्य मध्ये । तस्येदं विहृतमाभरन्त" इति मन्त्रो यस्य वराहस्य रूपं धारयन् परमेश्वरः भूमिं समुद्रमध्येनिगूढस्थाने प्रविष्टामलभत्, तेनेदमुत्खातं मृत्खण्डम् आभरन्तो वयमिति वराहावतारकथाप्रदर्शनपूर्वकं वराहविहितं स्तुवन् तत्सम्भरणं स्मारयति । एतेनैव प्रकारेण "इषेत्वोर्जेत्वा" इत्यादयोपि मन्त्रा व्याख्येयाः । तत्र हि "इषेत्वोर्जेत्वा" इति "शाखामाच्छिनत्ति" इति विनियोगात् हे शाखे भो स्वसृष्टशाखान्तःप्रवेशेन तत्तादात्म्यापन्नपरमेश्वर त्वाम् इषे अन्नाय "अन्नं विराट्" इति श्रुतेर्विराड्भवाय ऊर्जे रसाय "रसो वै सः" इति श्रुतेः परमानन्दप्राप्त्यैव च्छेदनेनावाप्नवानीति । एतेन "ओषधे त्रायस्वैनं स्वधिते मैनं हिंसीः, शृणोत ग्रावाणः, लोमभ्यः स्वाहा, चंक्रमणाय स्वाहा" इत्यादयोऽचेतनार्थ सम्बन्धाम्येतनप्रवेशतत्तादात्म्यापत्तिपरतया व्याख्येयाः । एवं हि व्याख्याने क्रिय-माणे "पुरुष एवेदं सर्वम्, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, इमानि सर्वाणि यमाविशन्ति, ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्" इत्यादयः श्रुतयः सर्वस्यात्म-मात्रत्वं सर्वेषां शब्दानां तत्प्रतिपादनपरत्वं च दर्शयन्त्यः समञ्जसा भवन्ति । तत्र यः सम्भरणादिकं कर्मैव प्रशंसति स कर्मठोऽल्पश्रुतः, यो वराहं स उपासको मध्यमः, यः कृष्णं स तत्त्वज्ञ उत्तमः, कर्मोपास्तिज्ञानकाण्डानामुत्तरोत्तरस्य प्रशस्तत्वात्, न हि येन सम्भरणस्य महत्त्वं सोर्थः सम्भरणादमहानिति सम्भव-तीति सहृदयग्राह्यमेतत् । तत्रैवं सति भाष्यकारीयं व्याख्यानं हे शाखे त्वां लौकिकयोरन्नरसयोः प्राप्त्यर्थं छिनद्मीति क्रियमाणच्छेदनप्रशंसार्थम् ईदृशमिदं शाखाच्छेदनं येनान्नरसौ लभ्येते इति सोयमर्थःकर्मजडानांरुचिकरोपि पूर्वोक्तस्या-र्थस्य प्रत्यक्षश्रुतिशिखरमूलस्य सहृदयग्राह्यस्य न बाधकः । किञ्च, विनियोग-मात्रात्स्वार्थमुत्सृज्य केवलकर्मपरत्वं मन्त्रस्य न वक्तुं शक्यते । तथाहि "इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदं ॥ समूढहमस्यपांसुरे" इत्ययं मन्त्रः वाङ्नियम-लोपप्रायश्चित्तार्थं जपे सर्वप्रायश्चित्तार्थमाज्यहोमे वैष्णवो (?) पांसुयाजस्य पुरोनुवाक्यत्वेन च विनियुज्यते, न चात्र तदनुकूलं किञ्चिल्लिङ्गं दृश्यते येन विनियोगभेदेन व्याख्यानभेदोत्र कल्पयितुं शक्यते, किन्तु केवलं विष्णोर्माहात्म्य-मुच्यते, इदं त्रैलोक्यं पदत्रयेण विष्णुरतिक्रान्तवान् तच्चिन्नं यतस्तदस्य पांसुमति

पदे पांसुरूपेण सम्यगारूढमिति । न चैतेषां व्याख्यानम् "इषे त्वा" इतिवद्विनियोगमात्रविदायुधकरवराहवामनप्रादुर्भावान् ऐतिहासिकानजानता कर्तुं शक्यम् । द्वितीये "आज्यैः स्तुवते, पृष्ठैः स्तुवते प्रउग (?) शंसति, निष्कैवल्यं शंसति" इत्यादौ स्तुतशस्त्रयोस्तु संस्कारो "याज्यावद्देवताभिधानत्वात्" इति सूत्रेण, । यथा याज्या देवताभिधानरूपया दृष्टयैव द्वारा इष्टदेवतास्मारकत्वेन प्रधानयागसंस्कारार्था, एवं स्तोत्रशस्त्रे अपि मन्त्राणामन्यत्र क्लृप्तया दृष्टार्थतया लंघनीयत्वादिति प्राप्तेऽपि वा श्रुतिसंयोगात्प्रकरणे "स्तौतिशंसती क्रियोत्पत्तिं विदध्याताम्" इति सूत्रेण स्तुतेः श्रुतिप्रकरणाभ्यां प्रतीयमानं साध्यत्वमुल्लंघ्याश्रुतस्य संस्कारसाधनस्य कल्पनायोगात् याज्यायास्तु प्रकरणादिना यागांगत्वसिद्धेर्दृष्टार्थत्वौचित्यात्तस्याचेण (?) होयागात्प्रधानकर्मणी स्तौतिशंसती इति स्तुतशस्त्राधिकरणे स्तोत्रशस्त्रयोः स्तुत्येकप्रयोजनत्वस्य साधितत्वात्तत्सामान्यादितरस्यापि वेदभागस्य देवतास्तुतिप्राधान्येनैव प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वमपि युक्तम् एकरूप्यलाभात् तस्माज्जडानां कर्मसु यथा कथंचिद्व्युत्पादनार्थो भाष्यकारमते वेदे रामकथाया। अदर्शनेपि निगमनिरुक्तोपबृंहणादिसिद्धायास्तस्या अपलापायोगात् अव्युत्पन्नाग्राह्यत्वेपि व्युत्पन्नग्राह्यत्वासिद्धं रामायणस्य श्रुतिमूलत्वमतस्तन्मूलमन्त्रेष्वपि रामायणे इव कथांशा प्रत्यक्षवृत्त्या लभ्यते, अध्यात्मांशः परोक्षवृत्त्येति भाष्यकारीयव्याख्यानेन सह एकैकस्य मन्त्रस्य त्रेधा व्याख्यानं क्रियते तत्र 'कं नश्चित्रमिषण्यसि' इत्यादयः षट्'इषुर्नधन्वन्' इत्यादयः सप्तचत्वारिंशत्, 'तां सुते कीर्तिम्' इत्यादय एकविंशतिः 'पूर्वापरं चरतः' इत्यादयोऽष्टाविंशतिरित्येवमादयः परःसहस्रं प्रघट्टका रामकथां प्रकाशयन्त्युर्वशीपुरूरवासंवादादिवत् यथा "हये जाये मनसा" इत्यष्टादशर्चे सूक्ते उर्वशीपुरूरवसोः संवादरूपा कथा यथा वा "ओचित्सखायम्" इति चतुर्दशर्चे सूक्ते यमयम्योः संवादरूपा तद्वत् तत्र 'कं नश्चित्रमिषण्यसि चिकित्वान्' इति द्वादशर्चं सूक्तं विखनसः पुत्रस्य वम्रस्यार्षं तथा चानुक्रान्तं कं नो वम्रो वैखानस इति विखनाः ब्रह्मा 'विखनसाधितो विश्वगुप्तये' इति भागवते तत्र विखनःशब्दप्रयोगदर्शनात् वम्रोपदेन च वम्रीभिरनुवित्तं गुहास्थितं वल्मीकवया (?) सम्भरणमन्त्रलिंगात् वल्मीककारिणो जन्तुविशेषा उच्यन्ते ताभिर्वल्मीकगर्भस्थतामापादितो मुनिर्वाल्मीकिः स एवात्र वम्र इत्युच्यते, यथा वल्मीकशब्दादपत्यप्रत्ययः एवं वम्रीशब्दादपि गोत्रप्रत्ययस्तस्य लुक् शब्दसाधुत्वार्थं ज्ञेयः । वाल्मीकिश्च ब्रह्मपुत्रो रामायणस्य कर्ता स्कान्दे पार्वतीं प्रतीश्वरवाक्यं स्मर्यते "वाल्मीकिरभवद् ब्रह्मा वाणी वाक् तस्य रूपिणी । चकार रामचरितं पावनं चरितव्रतः" ॥ इति 'कं न' इति सूक्तस्य रामायणत्व

च एकार्थपरत्वं सिद्धम्‌ देवता तु तयोरिन्द्ररामशब्दाभ्यां निर्दिष्टः परमेश्वर एक एव। यथा च रामायणीयप्रथमेऽध्याये प्रश्नपूर्विका संक्षिप्ता रामकथास्ति तथास्मिन्नपि पञ्चर्चे इति अनयोर्मूलिमूलभाव. सिद्धो व्याख्याय प्रदर्श्यते। तत्रेयमाद्या ऋक्‌ 'कं न' इति। अत्र वम्रः स्वस्य गुरुं कल्पयित्वा तं पृच्छन्‌ तस्योत्तरमुखेनेश्वरं स्तौति—

यहाँ अपने गुरु की कल्पना करके वैखानस वम्र उनसे प्रश्न पूछते हुए उनके उत्तर के माध्यम से ईश्वर की स्तुति करता है।

कं नश्चित्रमिषण्यसि चिकित्वान्पृथुग्मानं वाश्रं वावृधध्यै।
कत्तस्य दातु शवसो व्युष्टौ तक्षद्वज्रं वृत्रतुरमपिन्वत्‌ ॥१॥

ऋ. १०. ९९, १

हे गुरू आप किस स्तुत्य, रमणीय, शौर्यवीर्यादिगुणों से युक्त पुरुष की स्तुति करने के लिए हमें प्रेरित कर रहे हैं। मेरे द्वारा स्तुति करने पर उसकी शक्ति क्या फल देगी ?

अर्थात्‌ कौन स्तुति के योग्य है और स्तुति करने पर क्या फल देता है ? उत्तर में कहते हैं : 'वह विवेक को तीक्ष्ण करके अज्ञान (वृत्रासुर) का नाश करता है।'

भो गुरो त्वं चिकित्वान्‌ स्तुत्यं पुरुषं जानन्‌ कं चित्रादिगुणवन्तं वावृधध्यै वर्धयितुं पराक्रमादिभिः स्तोतुम्‌ अस्मान्‌ इषण्यसि प्रेरयसि चित्रं रमणीयं पृथुग्मानं पृथून्‌ निरवधिकमहत्त्वयुक्तान्‌ शौर्यवीर्यादीन्‌ गतान्‌ प्राप्तान्‌ ब्रह्मादीन्‌ मिमीते परिच्छिनत्तीति तं पृथुग्मानं निरतिशयैश्वर्यं वाश्रं वर्णनीयं तथा तस्य पुरुषस्य सम्बन्धिनः शवसः बलस्य व्युष्टौ प्रकाशे मया कृते सति तस्य कत्‌ किं दातु दानं स्तुतः सन्‌ सः नः किं फलं दास्यतीत्यर्थः एवं कः स्तुत्यः किं च स्तुतिफलमिति पृष्टे प्रथमं प्ररोचनार्थं फलं दर्शयति तक्षदिति। अश्वमेधपर्वणि "ततो वृत्रं शरीरस्थं जघान भरतर्षभ। शतक्रतुरदृश्येन वज्रेणेतीह नः श्रुतम्‌" ॥ इति कृष्णवाक्ये इन्द्रवृत्रवज्रशब्दैरात्ममोहकविवेका उच्यन्ते एतैरेव संकेतैः कृत्स्नो वेदो व्याख्येय इत्येवमर्थः। ततश्च वज्रं स्तोतुर्विवेकं तक्षत्‌ तनुकुर्वन्‌ अभावश्छान्दसः। तेन सूक्ष्मार्थभेदिना वृत्रतुरं स्वाज्ञानहन्तारं तं अपिन्वत्‌ अतर्पयत्‌ स्तुत्या तुष्टः सन्‌ तं विवेकं ददाति येनाज्ञाननाशादनर्थनिवृत्त्यानन्दावाप्तिर्भवत इति पक्षेब्रह्म व्याहरन्ब्रह्मैव भवतीति विषयप्रयोजने दर्शिते ॥ १ ॥

सहिद्युताविद्युतावेति सामपृथुं योनिमसुरत्वाससाद।

सस्नीळेभिः प्रसहानो अस्य भ्रातुर्न ऋते सप्तथस्य मायाः ॥२॥
ऋ. १०. ९९, २

अपनी दीप्ति और शक्ति से युक्त, द्रोहरहित जिस राम की पत्नी पृथ्वी पुत्री सीता को असुरों के द्वारा चुरा लिया गया, उस राम ने अपने लोकवासियों के साथ पत्नी का हरण करने वाले रावण की माया को प्रकृष्ट रूप से सहन करते हुए युद्ध में उसकी समस्त माया को उसके साथ नष्ट कर दिया।

अथ स्तुतिस्वरूपं च दर्शयति सहीति। स घनश्यामः पुरुषः राम इति कथासम्बन्धवशादवसीयते। हि प्रसिद्धः प्रत्यगात्मत्वात्। द्युता स्वस्य दीप्त्या शक्त्या विद्युता तयैव विद्युद्वदपृथग्विग्रहया सह साम अपगतद्रोहं यथा स्यात्तथा वेति गच्छति देशान्तरमित्यर्थात् 'ऋभ्वा सह गयम् आगात्' इत्युपसंहारात् ऋभ्वा देव्या सीतया गयं गृहं तत्र च अस्य पृथुं पृथ्वीं योनिं जायां सीतां वायेदस्तंमद्य-वरसेदुर्योनिरिति (?) महीं देवीं विष्णुपत्नीमजूर्यामिति च लिंगात् असुरत्वा असुरधर्मेण चौर्यधर्मेणेत्यर्थः आससाद अर्थादसुरः रावणाख्यः चोरयित्वा नीतवा-नित्यर्थः। हनुमदादिभिः सः रामः सनीडेभिस्समाननीडैः स्वलोकवासिभिः पार्षदैः ऋभ्वं 'भुवायन्, इत्युपसंहारात् ऋभ्वं पृथिवीं सीतामित्यर्थः सह अस्य जायाहर्तुर्मायाः नागपाशबन्धादि रूपाः प्रसहानः प्रकर्षेण सहन् तस्य सर्वाः माया-स्तेन सह युद्धप्रसंगे नाशितवानित्यर्थः। तत्र हेतुः यतो मायाः ऋते सत्ये श्रीरामचन्द्रे न सन्तीति शेषः। मायावशं हि मायाः परकीया बाधन्ते न निर्माय-मित्यर्थः। कथंभूतस्यास्य सप्तथस्य सप्तमस्य भ्रातुर्भार्गहर्तुः सोदर्यौ हि भ्रातरौ पित्रा व्यवधानादन्योन्यस्मात्ततीयौ तत्पुत्रौ पञ्चमौ सप्तमौ तथा च विष्णोः कश्यपमरीचिब्रह्मपुलस्त्यविश्रव क्रमेण रावण सप्तमः तस्माच्च स इति इत्थमधि-लोकं मन्त्रस्यार्थः, अयमेवाधिदैविकोर्थः ॥ २ ॥

सवाजं यातापदुष्पदायन्त्स्वर्षातापरिषदत्सनिष्यन्।
अनर्वायच्छतदुरस्य वेदोघ्नञ्छिश्नदेवाँ अभिवर्पसाभूत् ॥३॥
ऋ. १०. ९९, ३

जल, थल, वन, कंटक आदि में चलने वाले, अश्वहीन श्रीरामभद्र संग्राम में गये और उन्होंने काम के अधीन राक्षसों का नाश करके लंका जाकर पत्नी का हरण करने वाले को मारकर, उसके भाई को परिजन से युक्त लंका का राज्य दे दिया।

अथाध्यात्ममप्युच्यते सवाजमिति ॥ स निरस्तसमस्तमायः श्रीरामभद्रः अनवाप्तगुल्मवाहनहीनः वाजं संग्रामं याता संताऽभूत् । कीदृशः । अपदुष्पदायन् अपगतं दुस्थितं पदं स्थानं कण्टककर्दमसलिलाद्यनाक्रान्तं यस्मात्तेन अपदुष्पदा सेतुरूपेण पथायन् गच्छन् लङ्कामित्यर्थात् स्वर्गात इन्द्रादिलोकानां विभाजको विष्णुः शतद्रुरस्य शतद्वारस्य सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः द्वाववाञ्ची नाभिर्दशमीति प्रतिवदनं दशद्वारत्वाच्छतद्वारो रावणः नाभ्यादिस्थानेष्वपि तत्तन्मुखद्वाराऽन्न रसागमनस्येष्टत्वात् मुखसंस्थानि प्रच्छन्नानि द्वाराणि संतीति ज्ञेयं । तस्य वेदो धनं लङ्काराज्यं सनिष्यन् तद्भ्रात्रे विभीषणाय विभजिष्यन् परिषदत् स्वेष्टजनेन परिवृतोऽन्यपीदत् । उपविष्टवान् । कीदृशः शिश्नदेवान् कामुकान्राक्षसादीन् घ्नन् नाशयन् वर्पसा स्वरूपेण अभ्यभून् अभिभावितवान् सेतुमार्गेण लङ्कां गत्वा दारहर्तारं हत्वा परिजनेनावृतः शत्रुधनानि तद्भ्रात्रे समर्पितवा नित्यर्थः ॥ ३ ॥

सयह्वोवनीर्गोष्ववौ जुहोति प्रधन्यासु सस्त्रिः ।
अपादो यत्र युज्यासोऽरथाद्रोण्यश्वास ईरते घृतं वा ॥४॥

ऋ. १०. ९९, ४

जल में नौका के समान जिनकी गति है, पादचार रहित के समान उन वानर सखाओं के साथ राम ने महासमुद्र पर पुल बना कर उसे विस्तीर्ण पृथ्वी के समान भ्रमण योग्य कर दिया ।

अपदुष्पदायन्नित्येतद्विवृणोति सयह्वइति । स रामो यत्रस्थाने घृतं क्षरण-स्वभावं घृतं वाःवारि द्रोण्यश्वासः द्रोणयो नाव एवाश्वा इवं गति साधनानि येषां सन्ति ते तथाभूताः एव ईरते गच्छन्ति यत्र च युज्यासः सखायो वानराः अपादः पादचाराभावात् पादहीना इव एवम् अर्थाः भवन्ति तत्रापि महार्णव-स्थाने यह्वाः महतीः अवनीः सस्त्रिर्विस्तीर्णान् भूप्रदेशान्ससार "अद्रिगमहन" इति क्निप्रत्ययां लिङ्वद्भावश्च । जलेपि सेतुं कृत्वा स्थलत्वं सम्पाद्य प्रचारेत्यर्थः । यासु प्रधन्यासु संग्रामयोग्यासु गोषु भूमिषु अर्वागच्छन् आजुहोति बलयर्थं दानहोमादिकं करोति ताः अवनीः सस्त्रिरित्यन्वयः । दशयोजनविस्तीर्णं शतयोजनमायन्त ॥ सेतुं कृत्वा सपरिवारस्तत्र गच्छतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

स रुद्रेभिरशस्तवारऋभ्वा हित्वीगयमारेअवद्य आगात् ।
वम्रस्य मन्ये मिथुनाविवव्री अन्नमभीत्यरो दयन्मुषायन् ॥५॥

ऋ. १०. ९९, ५

वह राम हनुमदादि सहित समस्तदोषों से रहित सीता के साथ पुनः अपने स्थान को वापस आ गये ! रावण के स्पर्श निमित्त अपवाद को दूर करने के लिए राम के द्वारा त्यक्त सीता वन में रुदन करने लगी। वाल्मीकि के युगल शिष्य लव कुश ने उनसे पढ़कर समस्त वृत्तान्त लोक में गया।

सरुद्रेभिरिति सः रामः रुद्रेभिः हनुमदादिभिः सहायैः ऋभ्वा ऋतेन भासनया देव्या सीतया सह गयं स्वस्थानम् आगात् आगतवान्कीदृश आरे अवद्य दूरनिरस्त-दोषः सीतां रावणहृतां सर्वदेवसन्निधौ संशोध्येत्यर्थः किं कृत्वा गयम् आगात् अशस्तवारोहित्वा प्रतिकूलकाले गृहं त्यक्त्वा पुनर्देव्या सहागादित्यर्थः। एतत्सर्वं समविष्यं रामायणं वत्रस्य वाल्मीकेः सम्बन्धिनौ शिष्यौ मिथुनौ द्वौ कुशलवौ विवव्री तस्मादघोऽय लोके विशेषेण विवृतवन्तौ इत्यहं मन्ये जानामीति मन्त्र-द्रष्टुरुक्तिः तत्र भविष्यमाह—अन्नमिति। मुषायन् स्तेनो रावणः अन्नं पृथिवीं तद्रूपां सीताम् अन्नशब्दः पृथिव्याम् "ता अन्नमसृजन्त" इति छान्दोग्ये। इत्थः अभीत्य अभ्येत्य अरोदयत रावणस्पर्शनिमित्तापवादपरिहार्थं रामेण त्यक्ता सीता रोदनं कृतवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

स अत्र ऋभ्वा सह गयमागादित्युपसंहारो विद्युता सहचेतीत्युपक्रमस्य अन्नं मुषायन्नित्युपसंहारो योनिमाससादेत्युपक्रमस्य दूरे अवद्य इत्युपसंहारोऽसुरस्पर्श-निमित्तकाधिकानां कायाश्चनुकूल इत्युपक्रमोपसंहारयोरैक्यैकरूप्यादिदं मन्त्रचतुष्ट-यात्मकमेकं वाक्यं परमपुरुषप्रतिपादकं तद्विषयश्च प्रश्नः प्रथममन्त्र इति मन्त्र-पञ्चकमिदं रामायणसंक्षेपपरमिति वाक्यार्थमर्यादाविदो विदांकुर्वन्तु ॥ ५ ॥ एवं मन्त्रपञ्चकस्य प्रत्यक्षवृत्त्या कथापरत्वेपि परोक्षवृत्त्या विद्यापरत्वमपि राम-रक्षास्थराघवादिपदानामिवास्ति तत्प्रदर्श्यते स्थालीपुलाकन्यायेन कृत्स्नो वेद एवमेवाधिदैवमध्यात्मं च व्याख्येय इत्येवमर्थं तत्र प्रथममन्त्रे यो मुमुक्षूणां स्तव्यः पुमानुक्तस्तस्याध्यारोपाय चाद्याभ्यां तत्त्वं दर्शयति—स हीत्यादिना। स हि स एव स्तुत्यः पुमान् द्युता प्रकाशमानया विद्यया, विद्युता विपरीतप्रकाशया अविद्यया च सहसामस्वसृष्टं कृत्स्नं जगत् वेति गच्छति अन्तर्यामिरूपेण जीवरूपेण च स्वसृष्ट समष्टि व्यष्टिरूप क्षेत्रं प्रविशतीत्यर्थः सामशब्द ऋक्सामाख्यद्विष (?) वाची "सैव नाम ऋगासीदमो नामसाम" इत्यव-यवार्थमुक्त्वा "यद्वैतत्साचाऽमश्च समभवतां तत्साम्नःसामत्वम्" इति निर्वचन-श्रवणात्। ऋक्सामशब्दश्चाधिदैविकमाध्यात्मिकं च प्रपञ्चं वक्ति "इयमेवर्गग्निः सामवागेव प्राणः साम" इत्यादिश्रुतेः। एवम् अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य "नामरूपे व्याकरवाणि" इति श्रुतेः। जीवेन सहितस्य नामरूपव्याकर्तुः परमे-

श्वरस्य प्रवेशोपि तेजोबन्नात्मके प्रपञ्चे गम्यते तथा—पृथुं कारणापेक्षयास्थूलं योनिं प्रवेशस्थानं शरीरं "योनिष्ठ इन्द्र निषदे अकारि" इति मन्त्रवर्णादत्र योनिः स्थानम् असुरत्वा असुषु प्राणेषु रममाणत्वेन विरोचनमतेन 'आत्मैवेहमहय्य' (?) इत्यादिनां श्रुतेन आससाद प्राप्तवानविद्यावान् देहं प्रविश्य तद्रूपोऽभवत् । तथा च—"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्" इति मूर्तामूर्तप्रपञ्चात्मकोऽभव-दित्यर्थः । ततश्च तमेव प्रेयांसं मन्यते नात्मानमिति जीवस्य बद्धत्वमुक्तम् ईश्वरस्य देहिनः प्रविष्टत्वेपि तदसंगित्वमाह—सखनीलेभिरिति । शुद्धसत्वोपाधि-रीश्वरा तस्य सनीडाः समानगृहाः निरतिशयधर्मज्ञानवैराग्यादयः सात्त्विकास्तैः सहायैः स ईश्वरोऽस्याविद्यावतो जीवस्य मायाः देहाद्यात्मभावान् प्रसहानः सोढवान् तैर्नाभिभूतोऽभूत्नापि तान्प्रत्याख्यत् असंगोदासीनसाक्षिरूपत्वात् । तत्र हेतुः ऋतेनेति-यतः ऋते अबाधितानन्दस्वरूपे न मायाः सन्तीति शेषः । कथंभूतस्य सप्तथस्यसप्तमस्य । भ्रातुः तत्र प्रथमं सच्छब्दितं शुद्धं द्वितीयम् ईक्षितृमायाशवलं तृतीयचतुर्थपञ्चमानि तेजोबन्नानि षष्ठस्त्रिवृत्कृतानां तेजोबन्नानां सङ्घातः साक्षी वा । सप्तमः जीवः भ्रातृत्वं चिद्रूपत्वेन बिम्बप्रतिबिम्बवत्साहश्यात् । एवमध्या-रोपितस्य प्रपञ्चस्यापवादार्थं द्वाभ्यां साधनकलापमाह—सखा जमिति अत्र विद्यायाः सैनिकाः शमाद्याः अविद्यायाः कामाद्याः परस्परं सहजशत्रवः । तत्र पूर्वेषां दौर्बल्ये योगसंग्रामस्य प्रशक्तिरेव नास्ति साम्ये त्वस्तीत्याह—स इति । स अविद्या-वान् अपदुनादा मार्गेण यन् जं (?) याता यास्यछि । निषिद्धकाम्यकर्मणी हि नरकनश्वरसुखप्रदत्वाद्दुष्येते सद्वर्जितेन ईश्वराराधनमार्गेण सञ्चरन् योगयुद्धयोग्यो भवतीत्यर्थः । एतेन कर्मणां प्रत्यक्प्रावण्यार्थत्वं दर्शितम् स एव स्वस्यैव शतदुरस्य विषयानन्त्यात् अनेकभोगद्वारस्य वेदाभोग्यं धनं शब्दादिविषयजातं सनिष्यन् श्रोत्रादिभ्यस्तद्ग्राहकेभ्यो विभाजयिष्यन् तेनैव हेतुना स्वर्षाता स्वः शब्दितानां शब्दादिप्राप्तिजानां साता विभाजयिता सन् परिषदत् सर्वं परित्यज्य निषीदन्नास्ते । यतः शब्दः श्रोत्रस्यैव विषयोऽतस्तज्जं सुखमपि तस्यैव न ममेत्युदास्ते इत्यर्थः । अतएव अनर्वा सर्वप्रवृत्तिशून्यः न अर्वति गच्छति प्रवर्तत इति योगात् । अत एव शिश्नेन दिव्यन्ति तान् कामादीन् घ्नन् हिंसन्नेव वयसा स्वरूपेण प्रकाशमानेन अभ्यभूत् । निःशेषकामविलय एव स्वरूपप्रकाशो मोक्ष इत्युच्यते ॥ ३ ॥ सयह्व इति । सः अर्वेवार्वा शीघ्रगतिः तीव्रसंवेगो योगी प्रधन्यासु योगयुद्धयोग्यासु गोषु योगभूमिषु अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयाख्यासु सस्रिः सरवू (?) तं तं कोशमुपसंक्रामन् यश्च महतीः अवनीः स्थूलाः भूमीः आ इत्यभिविधौ सर्वाः जुहोति अर्थात् सूक्ष्मासु प्रविलापयतीत्यर्थः । न पुनरुत्तरामुपसंक्रामन्पूर्वामव-

शेषयतीति भाव:। यत्र घृतं द्रुतं वारिवसमुद्रसलिलवदेकरसम्वस्तु तत्र पूज्यास्ता योगिनः अपादो अरथा इत्याध्यात्मिकाधिदैविकालम्बनशून्यत्वं लक्ष्यते तादृशा अपि द्रोण्यश्वास: नौशब्दस्य वाङ्नामसु पाठात् द्रोणिशब्दिता: वाग्रूपानौरेवाश्ववत् गतिसाधनं येषां ते द्रोण्यश्वास: तत्त्वमस्यादिवाक्यनौकाबलेन ईरते गच्छन्ति आनन्दमयम् उल्लंघ्य पञ्चे पुच्छब्रह्मणि वाक्यार्थावगतिबलेनैव प्रतितिष्ठन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥ कृत्स्नं पूर्वोक्तमर्थमुपसंहरत्यर्धर्चेन सरुद्रेभिरिति । स: स्तुत: पुरुषः रुद्रेभि: रोदयद्भिरेकादशभि: पड्भिर्वा इन्द्रियशत्रुभि: संगतोऽशस्तवार: घोर-संसारयातनानिमित्ततया अमंगलदिवसो भवति । स एव पुनः भूम्वा देव्या विद्यया आरे अवद्योनिरस्तानर्थो गयं स्वस्वरूपप्रतिष्ठारूपमधिष्ठानम् आगात् इन्द्रिययोगो बन्धः, विद्यया तन्नाशो मोक्ष इत्यर्थ: । एवं वस्रस्य वस्रं प्रतिमिथुना-मिथुनौ आत्मानात्मानौ विवव्री विवृतवन्तौ स्वस्वरूपमिति शेष: । एवं समाधौ जडात्पृथक्कृतमात्मानं जानन्नपि व्युत्थाने अत्रं स्थूलदेहम् अभीत्य अभिमुखं प्राप्य मुषायन्स्वरूपानन्दमहरन् लब्धावसर: सन् अरोदयत् स एव रुद्रशब्दित इन्द्रियगण इत्यर्थात् । एतेन साक्षात्कृतात्मयाथात्म्यस्यापि दग्धपटवद्देहाद्यध्यासानुवृत्तेर्दुःखा-नुवृत्तिप्रदर्शनेन जीवन्मुक्तिः साधिता । अन्यथा ज्ञानसमकालमेव देहपात: स्यादि-त्यन्यत्र विस्तर: ॥ ४ ॥ एवमाधिदैविकादेदस्यार्थादाध्यात्मिकमर्थं विशुद्धसत्वैक-गम्यं भाष्यकारैः सत्त्वशुद्ध्यर्थं यज्ञतदङ्गादिस्तावकतयाऽर्थो दर्शित: स भाष्या-देवावगन्तव्य: ॥ ५ ॥

पितुर्मातुरध्या ये समस्वरन्नृचा शोचन्तः संदहन्तो अव्रतान् ।
इन्द्रद्विष्टामपधमंति मायया त्वचमसिक्नीं भूमनो दिवस्परि ॥६॥

ऋ. ९. ७३, ५

माता-पिता से अधिक आप्त, हितोपदेष्टा, रामायण की रचना करने वाले वाल्मीकि ने दुःखी होकर २३ अक्षरों वाले अनुष्टुप छन्द का उच्चारण करते हुए उस व्याध को भस्म कर दिया। अविद्या के कारण नानायोनि में जाने से दुःखी आत्मा को मुक्त किया।

अथ इषुर्नबन्धीये मन्त्रषट्के रामायणस्य उत्पत्तिनिमित्तं प्रदर्श्यते तच्च नारदस्य तु तद्वाक्यमित्यादिना सर्गत्रयेण उपबृंहितं तस्य तात्पर्यं कपर्दकान्वेषिणा रत्नमिव रामकथान्वेषिणा परतत्त्वमभिलक्ष्यत इत्याख्यायिकामुखेन गम्यते। पितुर्मातुरिति पितुर्मातुश्चापेक्षया अधि अधिकं आ अत्यर्थं ये महान्त: जनहितं समस्वरन् सम्यगकीर्तयन् बहुत्वं पूजायाम् येन रामायणं कृतं स माता पितृशता-

दघ्यासतमो हितोपदेष्टत्वादित्यर्थः। कीदृशास्ते ऋचा द्वात्रिंशदक्षरया अनुष्टुभा शोचन्तः शोकं कुर्वन्तः शोकेन द्वात्रिंशदक्षरं वाक्यमुच्चारयन्त इत्यर्थः। कीदृशाः अव्रतान् हिंस्रान् सन्दहन्तः तेनैव शोकाग्निना भस्मीकुर्वन्ति ते संस्वरन्तः स्वकृतेनैव संस्वरेण मायया मूलाविद्यया सार्धं असिक्नीं कृष्णवर्णां तमोमयीं त्वचं शरीरं अपधमन्ति दूरीकुर्वन्ति श्रोतॄणामित्यर्थात्। कीदृशीं त्वचम् इन्द्रद्विष्टाम् इन्द्र आत्मा द्विष्टो नानायोनिनिपातनेन दुःखवान् कृतो यया ताम् भूमनः भूलोकात्, दिवः द्युलोकाच्च परिपरिच्युतामित्यर्थः। मुक्तानां हि शरीरं लोकत्रयेपि नास्तीति स्पष्टम् "अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इति श्रुतेः ॥ ६ ॥

प्रत्नान्मानादध्याये समस्वरन् श्लोकयंत्रासो रभसस्य मन्तवः।
अपानक्षासो बधिरा अहासत ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः ॥७॥

ऋ. १. ७३, ६

पुरातन वेद आदि को जानकर, दिव्य दृष्टि को प्राप्त करके उन्होंने यंत्रवत् काव्य की रचना की। यहाँ श्लोक की निष्पत्ति को कहते हैं कि अकार्य को देखकर ऋषि ने शाप दिया—कि नदी वेग के समान मन वाले, कार्याकार्य के विवेक से हीन, शास्त्र-श्रवणादि से रहित सत्य पथ से हटे हुए अतः पापफल के कारण नरक से नहीं तरते हैं।

यत्प्रमाणमाश्रित्य ते समस्वरन् यया च ऋचा शोकमकुर्वन् यथा च ऋचः संस्वरणहेतुत्वम् एतत्त्रयं दर्शयति प्रत्नान्मानादिति। प्रत्नं पुरातनं मानं प्रमाणं वेदं वा 'स ईक्षत लोकान्नुसृजा' इति कालिकम् ऐश्वरमीक्षणं वाऽधिगम्य येषि अधिकं समस्वरन् श्रुतिं दिव्यां दृष्टिं वा प्राप्य रम्यं काव्यं कृतवन्त इत्यर्थः। ते श्लोकयन्त्रासःश्लोक एव यन्त्रवत् काव्यकरणे प्रवर्तको येषां ते श्लोकयन्त्राः शोकानुवादिकाया ऋच आलोचने कृते तस्याः श्लोकरूपत्वं दृष्ट्वा ईदृशैरेव श्लोकैर्नारदोपदिष्टं पुरुषं वर्णयामीति प्रवृत्ता बभूवन्नित्यर्थः। एतेन शोचिलोकिकायिभिः (?) श्लोकशब्दो निष्पन्न इति दर्शितम्। अत्रापि बहुत्वं पूजायाम्। शोकानुवादिनीमव्रतदाहिकामृचं पठन्ति—रभसस्येत्यादि। अत्र 'तत्यादिपूरणः' इति स्मृतेरनुष्टुप्छन्दसि न्यूनमक्षरस्य इत्यत्र सिय इति वर्णद्वयकल्पनया पूरणीयं तेन रभसस्येत्यादयो दुष्कृत इत्यन्ताः द्वात्रिंशत् वर्णा भवन्ति अत्राकार्यं दृष्ट्वा शोकस्तत्कारिणः शापश्च दृश्यते। यथा—रभसस्य मन्तवःचित्तनदीवेगस्य मानयितारः। कामक्रोधादिवशाः अनक्षासः कार्याकार्यविवेकाभावादन्धाः बधिराः शास्त्रश्रवणहीनाः। ऋतस्य सत्यस्य यथा मार्गम् अप अहासत दूरे त्यक्तवन्तः।

अत एव दुष्कृतः पापफलात् नरकान्न तरन्ति न लंघयन्ति । तस्मादरे अकार्यकारिन्न व्रतत्वमपि दुष्कृतं न तरिष्यसीति भावः । एतदर्थकश्च श्लोको रामायणे दृश्यते—"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः । यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्" इति । अत्र 'यद् गायत्री च पंक्तिश्च ते द्वे अनुष्टुभौ' इति श्रुतेश्चतुर्विंशतिचत्वारिंशदक्षरतया चतुःषष्ट्यक्षरयोर्गायत्रीपंक्त्या यथा "द्वे अनुष्टुभौ द्वात्रिंशदक्षरे भवत." एवं जगत्यागमेऽपि रभसस्येत्यादिरनुष्टुबस्ति । यद्वा रभसस्य मन्तवोपेत्यानुष्टुप्पादः अनक्षेत्यादि त्रिष्टुप्पादः ऋतस्येत्यादिर्जगतीपाद इति वा पादकल्पनया सर्ववृत्तसम्भवोऽत्र द्रष्टव्यः । तथा च श्रुतिः— एता निवाप सर्वाणि छन्दांसि गायत्रं त्रैष्टुभं जागतमानुष्टुभमाचन्याति" इति (?) ॥ ७ ॥

सहस्रधारे वितते पवित्र आवाचं पुनंति कवयो मनीषिणः ।
रुद्रास एषामिषिरासो अद्रुहः स्पशः स्वंचः सुदृशो नृचक्षसः ॥८॥

ऋ. ९. ७३, ७

जितेन्द्रिय, मनीषी, काव्य रचना में समर्थ कवि चारो ओर व्याप्त ईश्वर के अनन्त प्रवाह में अपनी वाणी को पवित्र करते हैं अर्थात् भगवत्कीर्तन करते हैं। इन कवियों के मध्य में पूजनीय, द्रोहरहित, सीतान्वेषक, अद्भुतगति वाले, सम्यक्परीक्षक, चर्मनेत्रों से सीता को देखने वाले हनुमान हैं। वाल्मीकि के समान हनुमान ने भी रामायण की रचना की थी।

अत्र संस्वरणं मधुरस्वरेण गानं कोकिलवदिति ध्वनितम् तस्योपबृंहणम् 'कूजन्तं रामरामेति' श्लोके श्लोकदर्शनप्रवृत्तस्तैः किं कृतमतआह—सहस्रेति । आसमन्तात् वितते व्याप्ते महाविष्णौ सहस्रधारे सोमांशुरूपेण सत्तदिन्द्रियवृत्त्यभिव्यक्तचिदा सा सरूपेण वानन्तप्रवाहे पवित्रे पावने निमित्तभूतेसति मनीषिणो जितचेतसःकवयः काव्यरचनसमर्थाःवाचं स्वीयां पुनन्ति भगवद्गुणगणकीर्तनेन पवित्रीकुर्वन्ति वाल्मीकिप्रभृतय । एषां कवीनां मध्ये रुद्रासः बहुत्वं पूजायाम् रुद्रो हनूमान् इषिरासः इषिरांद्भुतगतिः अद्रुहः अद्रोहीस्पशः चारः सीतान्वेषकश्चरोभूदित्यर्थः । स च स्वंचः शोभनगमनः । सुदृशः सम्यक्परीक्षकः । नृचक्षसः नरं सीतारूपं चष्टे पश्यतीति नृचक्षाः सीतां ददर्शेत्यर्थः । वन्मथत् रुद्रोपि रामायणमकरोत्तत्र च रामदास्यमधिकम् । एवमन्योपि रामस्तोत्रेण वाचं दास्ये न देहं च पुनीयादिति भावः ॥ ८॥

ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतुस्त्रीषप विन्नाहृद्य(?)न्तराद्दधे ।
विद्वान्स विश्वा भुवनाभि पश्यत्यवा जुष्टान्विध्यति कर्ते अव्रतान् ॥९॥

ऋ. ९. ७३, ८

भगवान के कीर्तन से वाणी को पवित्र करने का क्या फल है, उसे कहते हैं–इस प्रकार आत्मतत्त्व का रक्षक, विद्या के माहात्म्य से दीनता और दंभ आदि से मुक्त हो जाता है। ज्ञान, दया और शौर्य ये तीन बातें उसके हृदय में रहती हैं। वह आत्मज्ञ होकर सारे संसार को देखता है, दीनों की रक्षा करता है और योग से अपने कर्मों को नष्ट कर देता है।

एवं परमेश्वरे वाचं पुनानस्य किं फलमत आह–ऋतस्येति। य एवंविधो भवद्गुणगानेन वाचं पुनाति स ऋतस्य गोपाः दम्भाय न भवति, आत्मतत्त्वस्य रक्षकः विद्यामाहात्म्यादन्यैर्दम्भनाय अभिलषितुं न शक्यते, निर्भयो भवत्यभयं प्राप्तो भवति इत्यर्थः। यतः सुक्रतुःशोभनाध्यानपरः स एवंभूतः त्री त्रीणि पवित्राणि अन्तर्हृदि आदधे आहितवान्। तान्येवाह—विद्वानिति। स विद्वान् आत्मज्ञो भूत्वा विश्वा भुवनानि अभितः साकल्येन पश्यति। तथा—अजुष्टान् अप्रीतान् दीनानित्यर्थः। अवति अतिशयेन पालयति–"क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ" इति लोट् तस्य च हिः–'अतो हेः' इतिहेर्लुक् च तथा–अव्रतान् कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टारं कर्ते कृतन्ति छिन्दन्त्यस्मिन् इति योगात् संग्रामे विध्यति तेन पापिष्ठेनापि संग्रामे शस्त्रमरणप्रापणेन उद्धरीत्यर्थः। तस्य ज्ञानं दया शौर्य च लोकोपकारार्थं वर्धत इत्यर्थः। एतान्येव हि त्रीणि पवित्राणि अन्यत्राप्युक्तानि–न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते, न दयासदृशो धर्मः' लोकान्प्रयान्तु रिपवोपि हि शस्त्रपूताः" इति निग्रहमुखोनुग्रहः शत्रुष्वपि परमो धर्म इत्यभिप्रायः ॥ ९ ॥

ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आ जिह्वाया अग्रे वरुणस्य मायया ।
धीराश्चित्तत्समिनक्षंत आशतात्राकर्तमवपदात्य प्रभुः ॥१०॥

ऋ. ९. ७३, ९

ईश्वर को प्राप्त करने के लिए तंतु अर्थात् साधन रूप रामायण वरुण पुत्र प्राचेतस की जिह्वा से विस्तारित की गयी है। ध्यानवान लोग भली प्रकार से ग्रहण करके एक मात्र परम पद को प्राप्त होते हैं और जो राम कथा के विषय में उदासीन रहते हैं वे नरक को प्राप्त होते हैं।

अथ रामकथापरं स्तुवन्नन्यं निन्दति ऋतस्य तन्तुरिति । ऋतस्य परमात्मनः प्रापको गन्तुं तन्तुरिव तन्तुरूर्ध्वपदारोहणसाधनः—"स यथोर्णनाभिस्तं तुनोच्चैरीत्" इति मैत्रायणीयश्रुतिसिद्धोयं दृष्टान्तः । विष्णो वाचः पवनरूपः कवीनां जिह्वाया अग्रे स्थितो वरुणस्य भोगमोक्षार्थिभिर्वरणीयस्य विष्णोर्मायया आ अत्यन्तं विततो विस्तारितः श्रीरामकथारूपोस्ति वरुणस्य जिह्वाया अग्र इति वा योज्यम् वरुणपुत्रस्य प्राचेतसापरनाम्नो वाल्मीकेरित्यर्थः । धीराश्चित् ध्यानवन्त एव, तत् तं तन्तुं समिनक्षन्तः सम्यक् कात्स्न्र्येन व्याप्नुवन्तः न त्वेकदेशेन आशत प्राप्नुवन् । अत्र रामकथाधिगमे स्वाधीनेपि यः अप्रभुः जिह्वां व्यापारयितुमशक्तः, स कर्तम् हिंसास्थानं अपिपद्यवनाख्यं नरकं अपपदाति नीचैरवपद्यते । 'पद-गतौ' लेटि । आडागमः । तामेव रामकथां प्रस्तौति तां सुत इत्यादिना । सूक्तत्रयेण अत्रानुक्रमणी तां सुषट् बृहदुक्थो, वामदेव्यो, दूरेष्ठा, विदन्ते सप्त, वैश्वदेवं तु चतुर्थ्याद्यास्तिस्रो जगत्यः पूर्वयोरिन्द्रो देवता त्रिष्टुप्छन्दः हे मघवन् धनवन् लक्ष्मीपते तां प्रसिद्धान्ते तव सुकीर्ति शोभनं यशो महित्वा माहात्म्येन प्रब्रवीमीति शेषः ॥ १० ॥

तां सु ते कीर्तिं मघवन्महित्वा यत्वा भीते रोदसी अह्वयेताम् ।
प्रावो देवाँ आतिरो दासमोजः प्रजायै त्वस्यै यदशिक्ष इन्द्र ॥११॥

ऋ. १०. ५४, १

हे राम ! जब राक्षस से त्रस्त पृथ्वी-लोकवासियों ने आपको सहायता के लिए बुलाया, तब आपने पहले प्रकृष्ट रूप से पालित जय विजय रूप पार्षद, रावणादि को अपनी शक्ति से तिरस्कृत किया और उनके वध के माध्यम से मनुष्य रूप में राजा होकर अन्य प्रजा को वर्णाश्रम धर्म की शिक्षा दी ।

तामेवाह—यद्विति यत् यदा त्वा त्वां भीते राक्षसेभ्यस्त्रस्ते रोदसी द्यावापृथिव्योस्थे प्रजे आहोति आह्वयेताम् आहूतवत्यौ तदा त्वं देवान् प्रावः प्रकर्षेण पालितवानसि दासं च रावणादिरूपं पूर्वं जयविजयादिसंज्ञं स्वपार्षदम् ओजः ओजसा सामर्थ्येन अतिरः तिरस्कृतवानसि । वधप्रापणेन तथा त्वस्यै अन्यस्यै प्रजायै मानुषरूपायै राजा भूत्वा हे इन्द्र परमेश्वर यत् अशिक्षः अशिक्षयः वर्णाश्रमधर्मांश्च शिक्षितवानसि । तां ते कीर्तिमित्यन्वयः । अत्र रोदस्युद्वेजकदासक्षपणकमुचितं प्रजाशिक्षकत्वं मुख्यं रामादन्यत्र भगवदवतारान्तरे नास्ति यद्वा—अभिषेकानंगीकारात् इन्द्रे चासकृत्पराभवदर्शनाच्च मुख्यं मघवत्त्वं श्रुतिप्रसिद्धे-

न्द्रशब्दार्थभागित्वं चास्ति, अतो नान्यपरो मन्त्रः। किं चात्र तां सुते कीर्तिमित्यारभ्य स्वां प्रजां बृहदुक्थो महित्वावरेष्वदधादापरेष्वित्यन्तानामेकविंशतिमन्त्राणाम् उपक्रमपरामर्शोपसंहारेषु रामलिङ्गान्येव दृश्यन्ते। तत्रोपक्रमोव्याख्यात एव, उपसंहारेपि बृहदुक्थो महाकर्मा रामः स्वां प्रजां सन्तानरूपां च महित्वा स्वप्रभावेनालोकिकेन क्रमादवरेषु भूस्थानेषु आदधात्। परेषु वैकुण्ठस्थानेषु च आदधादिति प्रजानां नेतृत्वं राम एव दृष्टम्। अत्र बृहदुक्थऋषिः प्रत्यगभिन्नस्य रामस्य कर्माण्यात्मन्यारोप्य वदति। अहं मनुरभवं सूर्यश्चेत्यादि वामदेववत् अन्ये चात्रमप (?) स्था मन्त्राः कथाक्रमेण यथास्थानमेव व्याख्यास्यन्ते। अध्यात्मं तु द्वय्याहप्राजापत्या देवाश्चासुराश्चेति बृहदारण्यकादौ शमदमादिषु देवपदप्रयोगात् कामादिषु चासुरपदप्रयोगात् इत्थमस्य मन्त्रस्यार्थः प्रत्येतव्यः। सकलसंसारानर्थमूलात्कामाद्भीतैर्देवमनुष्यैः शरणीकृत ईश्वरः कामं हत्वा शमादींस्त्रातवान् मुमुक्षूंश्च सदाचार्यरूपेण तद्व्यवहारं शिक्षितवानिति दिक्॥ ११॥

आसुर्यो यातु सप्ताश्वः क्षेत्रं यदस्यो र्विपादीर्घपाथे रघुः।
श्येनः पतयदंधो अच्छायुवाकविर्दीयद्गोषु गच्छन्॥१२॥

ऋ. ४.४५, ६

श्रेष्ठ, दीर्घ और महान संसार में सूर्यवंश में ईश्वर ने शरीर धारण किया। वहां भी रघुवंश में वह अन्नमय शरीर धारण करके पृथ्वी पर विचरण करने लगे!

आह्वानं विवृणोति—आसूर्य इति। यत् क्षेत्रं शरीरम् अस्य आगन्तुः उर्विपा श्रेष्ठत्वेन अभिमतम्, दीर्घपाथे महति संसारमार्गे, तत् सूर्यःसप्ताश्वः स्वसन्तानरूपेणायातु सूर्यवंशे शरीरं धारयत्वित्यर्थः। तत्रापि रघुः रघुवंश्यो भूत्वा, श्येनः ईश्वरः पक्षी, अन्धो अच्छ अन्नमयं पिण्डमभिमुखः पतयत् पततु। स च युवा कविश्च सन् गोषु भूप्रदेशेषु गच्छन् सञ्चरन्, दीदयत् दीप्यताम्, रघुवंशे शरीरं धृत्वास्मानवत्वित्यर्थः। पक्षे सूर्यवत्सर्वविभासकबोधरूपी श्येन ईश्वरः रघुः तद्धावतोन्यानत्येतीति श्रुत्यन्तरात् शीघ्रगतिः नरम् आयातु स च बोद्धा धीबलात् सनकादिवद्युवा कविश्च सन् लोकाननुगृह्णातु। सप्ताश्वत्वं तु यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहाराख्याः पञ्च—धारणाध्यानसमाध्यात्मकः संयमः, षष्ठः प्राणायामः, प्रत्याहारो ध्यानम्। धारणा तर्कः, समाधिः षडङ्गा इति मैत्रायणीयश्रुतेस्तर्कश्चोपसंहार्य इति सप्त अश्वा आगमनसाधनानि यस्य स सप्ताश्वः शेषं प्राग्वत्॥ अत्रापि आश्रुण्वतीण्य इति आज्ञाकारी समुद्र इति तन्नियन्तृत्वमनन्तरमन्त्रे श्रुतं रघुपदसमुच्चितं रामे एव दृष्टम्। नान्यत्रागस्त्येऽन्यत्र रघुवंश्ये वा इति दाश-

रथिपरत्वमेवास्य मन्त्रस्याव सेयम् ॥ १२ ॥

स जातो गर्भो असि रोदस्योरग्ने चारुर्विभृत ओषधीषु ।
चित्रः शिशुः परितमांस्यक्तून्प्रमातृभ्योअधिक निक्रदद्‌गाः ॥१३॥

ऋ. १०. १, २

हे अग्नि ! तुम पृथ्वी और आकाश के मध्य उत्पन्न हुए हो न कि माता-पिता के शरीर में शुक्र शोणित रूप गर्भ से, क्योंकि मन्त्रज्ञों के द्वारा आग्नेय चरु रूप धारण करके सुन्दर आश्चर्य मय शिशु कौशल्यादि माताओं को प्राप्त करके रोया।

एवं प्रविलस्येश्वरस्य बहिरेव शरीरत्वं गत इत्याह सजात इति । हे अग्ने त्वं रोदस्योर्द्यावा पृथिव्योरेव मध्ये न तु मातापित्रो: शरीरे शुक्रशोणितरूपेण गर्भो जातोसि । यतः ओषधीषु आग्नेयचरुरूपासु विभृतः मन्त्रविद्भिर्धृतः चारुः सुन्दरः चित्रोनेकाश्चर्यमयः, शिशुः तमांस्यक्तून् तयोमर्यीर्मोहरात्रीः परिमोहहीनः परिरम्भवर्जनार्थः । चरुरूपी शिशुः मातृभ्यः कौशल्यादिभ्य एताः प्राप्य । अधिक-निक्रदत् आह्वयन् प्रकर्षेण अधिगाः अधिगतवानसि । कर्मसम्भूतचरुप्राशनमात्रा-देव गर्भधारणोक्तेलौकिक रामस्य जन्मेति दर्शितम् । अत्रापि भद्रो भद्रया सच मान आगात्स्वसारं तारो अभ्येति पश्चात् सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्नुशद्भिर्वर्णैरभि राममस्थादिति षोडशी मन्त्रे लिंगदर्शनात् । बहुमातृकत्वसमुच्चितो रामशब्दो नैकमातृके जामदग्न्ये द्विमातृके वासुदेवे वा समवैति दाशरथिपर एवायं प्रघट्टकः, तत्रापि कतिपये मन्त्रकथोपयोगिनो यथास्थानमेवोदाहृत्य व्याख्यास्यन्ते । पक्षेऽग्निर्बिज्ञानधातुः स हि इष्टादिकारिणां स्वर्गतानां कर्मशेषेण भूमिमुपेयुषां वृष्टिद्वारा ओषधिसम्पर्के याहानामनुशायिनां सम्बन्धी भूत्वा प्रथममोषधीषु विभृतः सन् पश्चाद्रोदस्योर्द्यावापृथिव्योः द्यौः पिता पृथिवी मातेति मन्त्रवर्णात् मातरि शोणितरूपेण पितरि रेतोरूपेण परिणतः सन् तयोः संयोगान्मातृभ्य जातो भवति, तेन ओषधिसम्बन्धेन पूर्वजन्मलिङ्गेन मातृभ्य इति बहुवचनेन च संसार-स्यानादित्वं दर्शितम् । चित्रः शिशुर्जातः सन् तमांस्यक्तून् परिदेहाद्यात्मबुद्धिरूपा अज्ञानरात्रीः परिप्राप्य दुःखितोस्तीति प्रकर्षेण कनिक्रदत् रुदन् अधिगाःअधि-गतवानसि ॥ अत्र विज्ञानस्यैव तमोभिभूतत्वं भोगभावत्वं शोकभावत्व चोक्तम् ॥ १३ ॥

विष्णुरित्था परमस्य विद्वाञ्जातो बृहन्नभि याति तृतीयम् ।

आसायदस्य पयाकृत स्वं सचेतसो अभ्यर्चन्त्यत्र ॥१४॥

ऋ. १०. १, ३

भगवान् विष्णु ने राक्षसवधादि कारण को जानकर भी ब्रह्म होते हुए भी तमः आदि गुणों से रहित तृतीय शरीर को धारण किया क्योंकि क्षीरसागर में स्थित उनके तृतीय विष्णु रूप की उपमन्यु आदि भक्त पूजा करते हैं। इस प्रकार भक्तों के आग्रह पर तथा दुष्टों के विनाश के लिए उन्होंने अवतार लिया।

एवं मातृभिश्च रुद्रप्राशसने कृते सति किमभूत्तदाह—विष्णुरिति । विष्णुर्नारायणः एवमस्याग्नेर्गर्भभूतस्य परमं रक्षोवधाद्युत्कृष्टं चिकीर्षितं विद्वान् जानन् जातस्तत्र गर्भे आविर्भूतः जलचन्द्रवत् स च बृहन् ब्रह्मैव सन् विज्ञान् गुणान् तमआदीन् अस्पृशन्नेव ॥ तृतीयं शुद्धकारणापेक्षया त्रयाणां पूरणं कार्यदेहम् अभियाति धत्ते । अस्य विग्रहस्य आसा आस्ना आस्येन एतद्रूपभजनद्वारेणेर्थः । 'पद्दन्' इत्यादिना आस्यशब्दस्यासन्नादेशे सुपांसुलुगिति तृतीयैकवचनस्य डादेशः । पयः क्षीरधिं स्वं स्वीयम् अकृत कृतवन्तः, उपमन्युप्रभृतयो भक्ता इति हेतोः सचेतसो धीमन्तोऽत्रैव तृतीये रूपे श्रद्धालवोविष्णुमभ्यर्चन्ति । एतेनास्य भक्तानुग्रह एव मुख्यं प्रयोजनम् दुष्टनिग्रहस्तु तच्छेषभूत इति गम्यते । पक्षे विष्णुरन्तर्यामी परमं मोक्षरूपं प्रयोजनम् अस्येत्यादि सर्वनामत्रयस्य मानुषदेह एवार्थः शेषं सुगमम् ॥ १४ ॥

अत उ त्वा पितुभृतो जनित्रीरन्नावृधं प्रतिचरन्त्यन्नैः ।
ता ईं प्रत्येषि पुनरन्यरूपा असित्वं विक्षु मानुषीषु होता ॥१५॥

ऋ. १०. १, ४

उक्त हेतु से विष्णु को निश्चित रूप से पिता, माता और वर्धक कहना चाहिए। एक रूप में तुम आराधयित्री हो दूसरे रूप में आराध्य रूप हो। तुम मानवों में यज्ञादि सदाचार के प्रवर्तक हो।

अत इति—अत उक्तहेतोस्त्वा त्वां विष्णुम् उनिश्चितं पितुभृतोऽन्नपुष्टाः जनित्रीर्मातरः अन्नावृधं विराजोपि वर्धकं अन्नैः क्षीराद्यैः प्रतिचरन्ति पुष्यन्ति ॥ ताः मातृः त्वं पुनरन्यरूपाः पूर्वमाराधयित्रीः सतीः पश्चादाराध्यरूपाः सम्प्रत्यन्वेषि आराधयसि ॥ यतस्त्वं मानुषीषु विक्षु प्रजासु होतासि यज्ञादिसदाचारप्रवर्तकासि । अतो मातृर्देवतावन्मानयसीत्यर्थः ॥ पक्षे त्वतः सुखाशावतीर्मातृः दुःखिताः सतीरन्वेषि । एषेन निषिद्धकर्माचरणतो मोह उक्तः ॥ अक्षर योजना

स्पष्टा । अन्नादवृधत् अन्नावृधम् । विश्वायुपभिति निपातनादीर्घत्वं पूर्वपदान्तस्य ॥ १२ ॥

तिस्रो मातृस्त्रीन पितृन्बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमवग्लापयंति ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम् ॥१३॥
ऋ. १. १६४, १०

तीनों माताओं कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा तथा तीन पिताओं जन्मदाता दशरथ, उपनयन कर्त्ता वशिष्ठ और विद्यादाता विश्वामित्र ने उस एक शरीर का पालन करते हुए दुःख नहीं प्राप्त किया जिस में सम्पूर्ण संसार व्याप्त है तथा जो विश्वविद है—जिसके विषय में ब्रह्मादि भी नहीं जानते हैं ।

जनित्रीणामाकांक्षितं संख्याविशेषमाह—तिस्र इति । तिस्रः कौशल्याकैकेयीसुमित्रासंज्ञाःमातृ त्रीन् पितृन् जनयितारं दशरथम्, वसिष्ठमुपनेतारम् विश्वामित्रं विद्याप्रदातारं चेति त्रीन् बिभ्रत् पालयन् त्रिमातृकत्वादेनेकदेहोपि एक एव ऊर्ध्वं विज्ञानधर्मेषु शोकायासादिष्वनिमग्न एव तस्थौ ॥ अत एव ईं एनं ते मात्रादयः न अवग्लापयन्ति ग्लपयन्ति ॥ ग्लापयन्तीत्योददैर्ध्यम् ॥ देहप्रदानात् तत्कृतेन दुःखेन नाभिभवन्ति । अत्र हेतुमाह—मन्त्रयन्त इति । दिवापृष्ठे मेरुमूर्धनि अमुष्य प्रतिपादिकां वाचम् उपनिषदं ब्रह्मादयो मन्त्रयन्ते विचारयन्ति । विश्वं वेदयति तां विश्वविदम् । अविश्वमिन्वां विश्वस्माद्व्यावृताम् । एकविज्ञानात्सर्वविज्ञानप्रदायाः नेति नेतीति मूर्तामूर्तप्रपञ्चनिषेधिकायाः ब्रह्मादिभिरप्यन्वेषणीयायाः वाचो विषयमिमं मात्रादिनो देहो न बध्नातीत्यर्थः । अत्रापीश्वरस्य सतःत्रिमातृकत्वं दाशरथावेव दृष्टम् । पक्षेतिस्रो मातरः समष्टिस्थूलसूक्ष्मकारणरूपा उपाधयः । त्रयः पितरस्तदभिमानिनश्चिदाभासाः वैश्वानरहिरण्यगर्भान्तर्यामिसंज्ञाः । तज्जो विज्ञानधातुरपि व्यष्टिस्थूलसूक्ष्मकारणरूपेण त्रिविधः तदभिमानिनश्चिदाभासा अपि त्रयो विश्वतैजसप्राज्ञसंज्ञाः ॥ एतेषामधिष्ठानभूतोपि न विक्रियत इत्यर्थः अक्षरयोजना पूर्वोक्तैव ॥ १६ ॥

चत्वारि ते असुर्याणि नामादाभ्यानि महिषस्य सन्ति ।
त्वमङ्गतानि विश्वानि वित्से येभिकर्माणि मघवञ्चकर्थ ॥१७॥
ऋ. १०. ५४, ४

राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न नाम से चार रूपों में असुरों का उपयुक्त रीति से हित करने वाले हे भगवन् आप ही सारे संसार में

स्वयं व्याप्त हैं। हे लक्ष्मीपति! आपने रावणादि के वध के लिए ये रूप धारण किये हैं।

बहुमातृकस्यापेक्षितं रूपभेदं तां सुतीयमन्त्रेणाह—चत्वारि त इति। नाम निश्चितम्। नामोपलक्षितानि रूपाणि वा। विभक्तिलोप आर्षः चत्वारि रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्नाख्यानि असुर्याणि असुराणामप्युक्तरीत्या हितानि अदाभ्यानि अनधिभाव्यानि महिषस्य महतस्तव सन्ति। हे अंग तानि विश्वानि सर्वाणि नामानि त्वं त्वमेव वित्से लभसे॥ येभिर्यैः रूपैः मघवन् लक्ष्मीपते कर्माणि इन्द्रजिल्लवणवधादीनि चकर्थ। लक्ष्मणादयस्त्वत्तो नातिरिच्यन्ते, मृद इव बीजांकुरद्रुमा इत्यर्थः। अयं भावः—यथा कौशल्याकैकेयीभ्यामर्धमर्धं चरुं प्राप्य स्वस्वचरुभागस्यैकैकोंशः सुमित्रायै दत्तः॥ तेन सुमित्रा द्वौ पुत्रौ लेभे॥ इतरे त्वेकमेकमेवेति चत्वारः पुत्राः, एवं कार्यकारणरूपयोर्विराडन्तर्यामिणोर्मध्ये सूत्रात्मा उभयधर्मानुसारीति तत्र प्रतिफलितं चैतन्यमप्युभयविधं तत्र कार्यांशप्रतिबिम्बः शत्रुघ्नः, कार्योपाधि भरतमन्वेति। कारणांशप्रतिबिम्बो लक्ष्मणः, कारणोपाधि राममन्वेति॥ १७॥

अमंदान्स्तोमान्प्रभरे मनीषासिंधावधिक्षियतो भाव्यस्य।
यो मे सहस्रममिमीतसवानतूर्तो राजा श्रवइच्छमानः॥१८॥

ऋ. १. १२६, १

यहाँ राजा दशरथ द्वारा दान से सन्तुष्ट किये गये रोमश दम्पति का सम्वाद है: यज्ञ से कीर्ति की इच्छा करने वाले, मुझे सहस्र गायों के दान से सन्तुष्ट करने वाले राजा को मैं मनुष्य भाव में प्राप्त, ऐश्वर्ययुक्त समुद्र दमन में समर्थ पुत्रों की प्राप्ति संकल्प से कराऊँगा।

तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄनियुक्तं तत्र मुख्यं पितरं मुख्यां मातरं चाह। अमन्दानिति सप्तर्चेन सूक्तेन। तत्र प्रकृतोपयोगि मन्त्रचतुष्टयं व्याक्रियते। भाव्यपुत्रेण स्वनयापरनाम्ना रथदशकप्रदानाद्दशरथाख्यत्वं गतेन राज्ञा तोषितः कक्षीवान्वक्ता, अमन्दानिति कक्षीवान् दानतुष्टः पञ्चभिर्भावयव्यं तुष्टावान्त्ये अनुष्टुभौ भावयव्यरोमशयोर्दम्पत्योः संवाद इति अनुक्रमणिकायां भावयव्य इति चतुरक्षरं नामावगतम्, तत्र मध्यमवर्णद्वयलोपेन भावयव्य एव भाव्यः, तत्रेयमाद्या ऋक् अमन्दानिति। तस्य भाव्यस्यार्थे अमन्दान् मानुषत्वे जीवभावाप्राप्तेरमूढान् स्तोमान् स्तुत्यान् वंशसङ्घान् पुत्रानित्यर्थः। मनीषया सङ्कल्पेनैव प्रभरे प्रकर्षेण सञ्चिनोमि। कीदृशान् सिन्धौ समुद्रेपि अधि अधिकं

क्षियतः ऐश्वर्ययुक्तान, उपरि सेतुं कृत्वा निवसत इति वा। समुद्रदमनसमर्थान्पुत्रा-न्भाव्यस्यार्थे कल्पयामीत्यर्थः। यो भव्यो मे मह्यं सहस्रं गवाम् अमिमीत संख्या-तवान् दातुं सर्वान्। वर्णद्वयलोपआर्षः। सननं विभजनं दानं तद्वान्। अतूर्तो ऽहिंसितः श्रवः कीर्तिमृइच्छिमानः सर्वान् यज्ञानिति। यथा भाष्यं वा ॥१८॥

उप मा श्यावाः स्वनयेन दत्ता वधूमन्तो दशरथासो अस्थुः।
षष्टिःसहस्रमनुगव्यमागात्सनत् कक्षीवाँ अभिपित्वे अह्नां ॥१९॥

ऋ. १. १२६, ३

राजा ने बैल युक्त काली लकड़ी वाले रथ मुझे दान में दिये, जिनके पीछे छः सहस्र गायों का समूह था। अतः उसके दान से सन्तुष्ट अर्थात् कक्षीवान् मैं यज्ञ के द्वारा सत्यपात्र में धन का रखूंगा अर्थात् दशरथ को पुत्र की प्राप्ति कराऊंगा।

उपमेति—स्वनयेन राज्ञा दत्ताः श्यावाः कृष्ण काष्ठजाः दशरथासो रथाः वधूमन्तः प्रत्येकं शकटीयुक्ताः मा उपास्थुः मम समीपे स्थितवन्तः। तथा षष्ठिः—सहस्रं गव्यं गोयूथं च रथाननु आगात् आगतं मां प्रति, अतः कक्षीवानहं अह्नां-क्रतून् अभिपित्वे सर्वतः पालयितरि सत्पात्रे ईश्वरे वा सनत् धनानि विभजन् अस्मीति शेषः। दशरथपदप्रवृत्तिनिमित्तं प्रागुक्तं ज्ञापयन्नयं मन्त्रः प्रसंगादुपन्यस्तः ॥ १९ ॥

चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणाः सहस्रस्याग्रे श्रेणिं नयन्ति।
मदच्युतः कृशनावतो अत्यान्कक्षीवन्त उदमृक्षन्तपज्राः ॥२०॥

ऋ. १. १२६, ४

दशरथ के यज्ञ में प्राप्त, मदयुक्त, सुनियन्त्रित, अत्यन्त वेगवान् चार सहस्र लाल अश्व रथ के आगे चलते हैं। दान से सन्तुष्ट होकर ऋषि ने अश्व गुण से सन्तुष्ट होकर उनके स्कंध देश से जुए को प्रेम से हटा लिया।

चत्वारिंशदिति—दशरथस्य राज्ञो यज्ञे लब्धाः चत्वारिंशत्संख्याः शोणा अरुणाश्वाः सहस्रस्य सहस्राश्ववाह्यस्यापि रथस्याग्रे पुरस्तात् श्रेणिं रथनेमिपंक्ति नयन्ति प्रापयन्ति, अतिवेगवत्त्वात् तांश्च मदच्युतः श्च्योतन्मदान्। कृशनावतः कृशनं कर्शनं नियन्त्रणं तद्वतः सुशिक्षिता नित्यर्थः। अत्यान् अतिक्रम्य गन्तुर्महान् मण्डूकगतीनित्यर्थः। कक्षीवन्तः पुत्राः उदमृक्षन्त सादिनो भूत्वाऽश्वगुणसन्तुष्टाः स्कन्धदेशे मार्जितवन्तः प्रेम्णा परामृष्टवन्तित्यर्थः। यतः पूर्वं प्रज्राः पद्भ्यामेव

जीर्यन्त इति प्रज्ञा. पादचारेण खिन्ना: पक्षे पूर्वं ब्रह्माणि पण्णामुपाधीनां विदा भासानां चारो यउक्त: तदपवादेन निर्विशेषं वस्त्वधिगन्तुं योग्यतासिद्धयर्थममन्द-निति मन्त्रद्वयेन दशरथस्य दानादिकमुक्तम् तेन योतिमहति कुले जात: महान्ति यज्ञदानादीनि करोति स एव ब्रह्मज्ञानयोग्यो भवतीति गम्यते । तथा च श्रुति:-"विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन" इत्यादि । तृतीये तु मन्त्रेऽपवाद उच्यते, तत्राय-मक्षरार्थः-दशभिरिन्द्रियाश्वैर्युक्तो मनोमय: कोशो दशरथ:, तस्य च शोणा: रागा: प्रतीन्द्रियार्थं प्रसुप्ततनुछिन्नोदारभेदेन चतूरूपा: सन्तश्चत्वारिंशत्, ते च तावन्तोपि सहस्याग्रे सहस्रादप्यधिकं श्रेणिं रागपंक्ति नयन्ति प्रापयन्ति, विषयाणामानन्त्या-दनन्ता इत्यर्थः । "अनन्तं वै मन:" इतिश्रुते: । मदच्युत इति-तेषामुदारावस्था । कृशनावत इति-कृशनं कार्श्यं तद्वत इति तन्ववस्था । अत्यानीति प्रसुप्तविच्छि-न्नावस्थे च दर्शिते तांश्च सर्वान् कक्षिवन्त उदमृक्षन्त पांसुरेखावदुन्मार्जितवन्त: । यत: वज्रा: इन्द्रियाश्वानारोहन्तीत्यर्थः । एतेन इन्द्रियनिर्मुक्तमनोमात्रावस्थानेन योगिन: स्वप्नस्थस्येव अन्नमयप्राणमययोरप्रतिसन्धानेन प्रविलय उक्त: ॥ २० ॥

उपोपमे पराभृशमामेदभ्राणि मन्यथा: ।
सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका ॥२१॥

ऋ. १. २६, ७

इस प्रकार कक्षीवान् ऋषि दशरथ को पुत्रप्रदान का सङ्कल्प कर लेने पर, दशरथ के अपनी पत्नी के साथ व्रत में स्थित हो जाने पर उनको प्रबोधित करते हैं—मेरे समीप दृढव्रती होकर मेरे लक्षणों पर विचार करो । क्योंकि मैं रोम से सभी दोषों को दूर करता हूँ । जैसे गन्धार देशीय युवति बहुत लोभ होने पर भी अविपाल के द्वारा लोभ रहित कर दी गयी थी वैसे ही मैं हूँ । मनोमय जो भी सङ्कल्प है उसे मैं करता हूँ ।

एवं कक्षीवता दशरथस्य पुत्रप्रदाने सङ्कल्पिते दशरथ: स्वभार्यया व्रतदार्ढ्यं संदिहानस्तया प्रबोध्यते-उपमेति । पादपूरणार्थमुपसर्गस्य द्वित्वम् । मे मम उपोपसमीपे परामृश इयं दृढव्रतास्ति नवेति मदीयैर्लक्षणैर्विचारय । मे मम व्रतानि दभ्राणि अर्धस्थितानि मा मन्यथा:माजानीहि ॥ यतोहं सर्वा कृत्स्ना रोमशा रोमाणि शातप्रतिविधूननेन दूरीकरोतीति रोमशा अश्वा सेव शातित-दोषोऽस्मि-"अश्वा इव रोमाणि विधूय पापम्" इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धोयं दृष्टान्त: । यथा गन्धारीणां गन्धारदेशीयानामविका बहुलोमापि अविपालै: शातितलोमा क्रियते तथास्मि । अत्र केचिद्रोमशापदेन रोमवश्यस्मीति व्याचक्षते तद्विगीत-

त्वादुपेक्ष्यम् । "सर्वास्मि रोमशा: कुचि" इत्यत्र अपालामिन्द्रस्त्रिपूत्वर्त्वं कृणो: सूर्यत्वचमित्यनन्तरमन्त्रेऽपालाया: त्रि:शोधनेन सूर्यसमत्वमकरो:, तथा ममापि तानि सर्वाणि उर्वरादीनि पूर्वमन्त्रोक्तानि प्ररोहार्थं शोधयित्वा दीप्तिमन्ति कुर्विति समुदायार्थ: प्रतीयते, स एवात्रापि ग्रहीतुं युक्त: रोमशेत्यव्युत्पन्नं प्रातिपदिकम् ॥ अन्यथा मत्वर्थीयशप्रत्ययान्तत्वे पदकाले एव गृह्येत अवान्तरपदसंज्ञाया: सत्त्वादिति दिक्। पक्षे बुद्धिमालिन्ये सति बाह्येन्द्रियवियुक्तमपि मन: स्वप्नेपि महान्तमनर्थं सृजति, अतस्तस्यां गुहायाम् अस्मितामात्रावशेषायां सर्वसङ्कल्पोपरमान्मनोमयस्य अहं कर्तेति अभिमानाभावान्मनोमयस्य विप्रविलापनं कृतं भवति कुशलेषु कौशल्या तत्त्वप्रतिपत्तियोग्येति योऽर्थ: कौशल्यापदेनोक्त:, स एवात्र रोमशापदेन गृहीत इति कौशल्याया: नामान्तरं रोमशेति । तथा ऋष्यशृङ्गस्य नामान्तरं कक्षीवानिति । एवमादि तत्तन्नियोगानुष्ठानवशादूह्येयम् ॥ २१ ॥

महाँ ऋषिर्देवजा देवजूतो ऽस्तभ्नात्सिन्धुमर्णवं नृचक्षाः ।
विश्वामित्रो यदवहत्सुदासमप्रियायत कुशिकेभिरिन्द्रः ॥२२॥

ऋ. ३. ५३, ९

इस प्रकार रामभद्र आदि चारों का वर्णन होने पर यज्ञ के विघ्न को दूर करने के लिये राम-लक्ष्मण की याचना करते हुए विश्वामित्र दशरथ के पास आये, इस कथा को कहते हैं : पूज्य, ऋषि, इन्द्रियवशी विश्वामित्र समुद्र को स्तम्भित करने वाले सुदास राजा के गोत्र में उत्पन्न राम को यज्ञ की रक्षा के लिये ले गये जिससे विश्वामित्र द्वारा दी गयी हवि को निर्विघ्न प्राप्त करके इन्द्र प्रसन्न हुए।

तदेवं रामभद्रादीनां चतुर्णां जन्मवर्णनं तेषु काकपक्षधरेषु यज्ञविघ्नापनोदनार्थं रामलक्ष्मणौ याचितुं दशरथं प्रति विश्वामित्र आजगामेति कथासूचकं मन्त्रमाह—महानिति । महान् पूज्य:, ऋषिर्नारायण:, देवज: राज्ञ: सकाशादाविर्भूत: देवजूत: देवा: इन्द्रादय:, इन्द्रियाणि वा जूता: प्रेरितानि येन स देवजूत: । सिन्धुं स्यन्दमानमर्णवं समुद्रम् अस्तभ्नात् स्तम्भितवान् । नॄन् चष्टे अनुकम्प्यत्वेन पश्यतीति नृचक्षा: इन्द्रियद्रष्टा वा "चक्षुषश्चक्षु" इति श्रुते: । तमृषिं सुदासं वसिष्ठ: "सुदासं पैजवनमभिषिषेच" इति ब्राह्मणाद्वसिष्ठयाज्यस्य मुख्यस्य सुदासोऽत्र ग्रहणायोगात् सुदासस्य राज्ञो गोत्रे भवं रामं विश्वामित्र: स्वज्ञयं त्रातुं यत् अवहत् यज्ञवाटं प्रति प्रापितवान् तेन कर्मणा इन्द्र: कुशिकै: कुशिकसन्तत्या अप्रियायत अविघ्नेन यज्ञे हवींषि भोक्ष्यामीति हर्षं प्राप्तवान् . पक्षे विश्वामित्रो जीव: आनन्दमयं शोधितत्वं पदार्थसारमानं गौणकर्म-

सुदासं रामाख्यं पुच्छं ब्रह्म प्रापितवान्, अतः ब्रह्मनिष्ठैःकुशिकैरिन्द्रोऽप्रियायत–“आत्मा ह्येषां स भवति” इति श्रुतेः। ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मनिष्ठो देवानामात्मभावं गतस्तेषां प्रियतमो भवतीति भावः। एतेनानन्दमयस्य प्रविलय उक्तः। तमेतं मुमुक्षुं प्राप्यमात्मानमज्ञात्वा यः कर्म करोति, तत्तस्य नश्यतीति रामं प्रति विश्वामित्रागमनेन सूचितम्। श्रुतिश्चैतदाह “यो वा एतदक्षरं गार्ग्यवि विदित्वाऽस्मिल्लोके जुहोति यजति ददाति” माध्यंदिन पाठे–“तपस्तप्यते” इत्यपि, “बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवे यदेवास्य तद्भवतीति” इति अत्राप्यर्णवस्तम्भनम् विपिबध्वं कुशिकाः सोम्यं मध्विति राजवृत्रं जह्नप्राणपागुदगिति च सोमपानाभ्यनुज्ञानं सर्वदेशीयवृत्रहननं च वक्ष्यमाणं विश्वामित्राद्बलातिबलयोर्ग्रहणं चेति सर्वं राम सङ्गतम्॥ एवमन्यदपि लिङ्गविशेषोपेतं मन्त्रजातमुदाह्रियते न निर्लिङ्गं हठादाकृष्यत इति दिक्॥ २२॥

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीळन्तौ परि यातो अध्वरम्।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूनन्यो विदधज्जायते पुनः॥२३॥

ऋ. १०. ८५, १८

दोनों बालकों, राम और लक्ष्मण ने आगे पीछे चलते हुए यज्ञ की रक्षा की। राम ने सूर्य के समान पूरे क्षेत्र को देखा और लक्ष्मण ने तिथि आदि के क्रम से संसार को धारण किया।

तदा यज्ञरक्षार्थं प्रस्थितौ रामलक्ष्मणौ सूर्यासावित्रीनामदेवता स्तौति–पूर्वापरमिति। शिशू रामलक्ष्मणौ पूर्वापरमग्रे पश्चाच्च चरतो गच्छतः मायया शिशुत्वम् एतौ गतौ क्रुडन्तौ अध्वरं परियातः। तयोरन्य एको रामः सूर्यवद्विश्वानि भुवनानि क्षेत्राणि आचष्ट साकल्येन पश्यति, चैतन्यज्योतिःस्वरूपत्वात्। अन्यो लक्ष्मणः ऋतून् तिथ्यादिजननक्रमेण वसन्तादीन् चन्द्र इव ऋतुशब्दोदितं कालं काल्यमानं जगत् विदधद्रचयन् पुनः पुनर्जायते। पक्षे श्रुतितो युक्तितश्चाध्यारोपापवादाभ्यां प्रतिपन्नस्य वस्तुनः सम्पादनार्थं निदिध्यासमिच्छतः तदालम्बनत्वेन सूत्रान्तर्यामिणावुपन्यस्तौ यद्यपि यज्ञं प्रतिगन्तृत्वं रामकृष्णयोरपि शिष्योद्दिष्टम् तथापीत आरभ्य यावदध्यायपरिसमाप्ति विवाहलिंगानि–“गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम्” इत्यादीनि–“उदीर्ष्वातः पतिवती ह्येषा सञ्ज्ञायां पत्या सृज” इति भार्याहेतुः प्रार्थनारूपेण लिंगेन लब्धायाः भार्यायाः हरणम् ‘पुनः पत्नीमग्निरदात्’ इति पुनस्तल्लाभ इत्येतत्समुच्चित्तं सर्वं रामे एव संगतमिति अयं प्रघट्टको रामपर एव॥ २३॥

परादेहि शामूल्यं ब्रह्मभ्यो विभजावसु।

कृत्यैषा पद्वती भूत्वा जाया विशते पतिम् ॥२४॥
ऋ. १०. ८५. २९

उन दोनों के प्रस्थान करने पर ताटका को आते हुए देखकर ऋषि बोले। विजयश्री अथवा गृहश्री को प्राप्त करने की इच्छा करने पर पराजयरूप अथवा दारिद्र्यरूप अलक्ष्मी पहले आती है। उसमें से प्रथम को शस्त्र से और दूसरी को दानादि से मारना चाहिये। इस ताटका रूप अमङ्गल को दूर से मारो। दूसरी के विनाश के लिए ब्राह्मणों को धन दो। क्योंकि वध के योग्य यह राक्षसी पादवती होने पर पत्नी के समान पतिया राजा के घर में आ जाती है।

प्रस्थितयोस्तयोः पुरस्तात्कामागतां वीक्ष्य ऋषिराह—परादेहीति। विजयश्रियं गृहश्रियं वा प्राप्तुं गच्छतः पूर्वं पराजयरूपा दारिद्र्यरूपा वा अलक्ष्मीरायाति। तत्र पूर्वा शस्त्रेणैव हन्तव्या, परा दानादिना हन्तव्येत्यत उक्तम्। शामूल्यममङ्गल्यम् इदं ताटकारूपं परा.देहि दूरतः खण्डय, इतरस्याः विनाशार्थं ब्रह्मभ्यो ब्राह्मणेभ्यो वसु वित्तं विभज देहि। कुतः यत एषा कृत्या वधकामा राक्षसी पद्वती पादवती जायेव सहचारिणी भूत्वा पतिं राजानं गृहपतिं वा विशते आयाति। एवमुक्तमात्रेण रामेण ताटका निहता विवाहात् प्राक् ब्राह्मणेभ्यो दानानि च दत्तानीत्युपरिष्टाद्द्रष्टव्यम्। पक्षे शामूल्यमर्थतृष्णा सा हि कर्मोपास्ति प्रतिबन्धहेतुर्वैराग्येण सर्वत्यागेन च हन्तव्येति भावः। अयमपि पौर्वापर एव मन्त्रः ॥ २४ ॥

उपप्रेत कुशिकाश्चेतयध्वमश्वं राये प्रमुञ्चता सुदासः।
राजा वृत्रं जङ्घनत्प्रागपागुदगथा यजाते वर आ पृथिव्याः ॥२५॥
ऋ. ३. ५३, ११

हे विश्वामित्र ! विशेष रूप से सावधान हो जाओ। कर्म समृद्धि से युक्त, सुदास गोत्रोत्पन्न राम की आज्ञा से यज्ञ प्रारम्भ करो। राजा राम सभी दिशाओं में स्थित विघ्नकारी राक्षसों को मार कर, यज्ञस्थान पर आकर यज्ञ करने की आज्ञा देते हैं।

एवं ताटकां हत्वा यज्ञवाटमागत्याहतुः—उपप्रेति। भो कुशिकाःविश्वामित्रीयाः उपप्रेत समीपे प्रकर्षेणायात चेतयध्वं सावधाना भवत। राये कर्मसमृद्धये सुदासःसुदासगोत्रोत्पन्नस्य रामस्याज्ञया अश्वं यज्ञसाधनविशेषं प्रमुञ्चत प्रचारयत। राजा रामो वृत्रं विघ्नकरान् असुरगणं जङ्घनत् निहन्ति प्रागपागुदक्

सर्वदिक्षु स्थितम् । अथ अनन्तरं पृथिव्याः वरे स्थाने यज्ञवाटे आयजाते—उप सम्वादं करोति यजध्वमित्याज्ञापयतीत्यर्थः । अत्र वृत्रशब्दितौ मारीचसुबाहू । पक्षे कर्तृत्वाभिमानः, फलाभिषङ्गश्च—तौ निहत्य ईश्वरो भक्तानां यज्ञं यातीति भावः अश्वादि:ोर्तनं प्ररोचनार्थम् ॥ २५ ॥

विश्वामित्राअरासत ब्रह्मेन्द्रायवज्रिणे करदिन्नः सुराधसः ॥२६॥

ऋ. ३. ५३, १३

विश्वामित्र ने बला और अतिबला नामक महान विद्या की सिद्धि श्री राम को प्रदान किया ।

एवमुक्तिपूर्वकं यागे साधिते रामे विश्वामित्रानुग्रहमाह—विश्वामित्रा इति । विश्वामित्राःऋषयः ब्रह्म महतीं विद्यां बलातिबलाख्यां इन्द्राय रामाय अरासत दत्तवन्तः । वज्रिणे महामणिधारिणे । कीदृशं ब्रह्म नः अस्मान् सुराधस शोभनसिद्धियुक्तानेव करत् कुर्वत् । पक्षे एवं तृष्णासङ्गं फलाशां च त्यक्त्वाऽनुष्ठिते यज्ञे, किञ्चिच्चित्तशुद्धौ जातायां विश्वामित्रोजीवःसर्वाणिकर्माणि तत्तद्देवतोपासनानि प्रत्यगभिन्नरामाभिमुखान्येव करोति—"अहं क्रतुरहं यज्ञ" इत्युक्तप्रकारेणेति भावः ॥ २७ ॥

तनूपनो बलासन्द्रानतु तसुनःबलन्तो काय तनयाय ।
जीवसे त्वं हि बलदा असि ॥२७॥

ऋ. ३. ५३, १८

बला नामक विद्या का मन्त्र इस प्रकार है : बल दो, बल दो ! शरीर को बलवान् बनाओ, स्वस्थ चित्त करो । बाह्याभ्यान्तर सभी शत्रुओं को जीतने की क्षमता प्रदान करो ।

तत्रायं बलामन्त्रः—बलं धेहि धेहीति बलं । अनलुतिस्वति—जीविकामात्रस्योपलक्षणम् । तोकायेति—स्यादेरप्युपलक्षणम् तोकाय स्त्रीपुंसाधारणायापत्याय । तनयाय—पुत्राय । जीवसे जीवितुम् शेषं स्पष्टम् सर्वेषां दार्थे सनि स्वस्वच्चित्तो बाह्यानाभ्यन्तरांश्चारीन् जेतुं क्षमसे इति भावः ॥ २७ ॥

इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अद्य याच्छ्रेष्ठाभिर्मघवन् शूर जिन्व ।
यो नो द्वेष्ट्यधरःसस्पदीष्ट यमु द्विष्मस्तमु प्राणो जहातु ॥२८॥

ऋ. ३. ५३, २१

अति बला नामक विद्या के मन्त्र को कहते हैं : हे इन्द्र ! समस्त

विभूतियों और लाभों को आज मुझे दो। हे मघवन् ! जो हमसे द्वेष करे वह पतित हो, जिससे हम द्वेष करें वह प्राणों को त्याग दे।

अतिबलामन्त्रमाह—इन्द्रोतिभिरिति। हे इन्द्र ऊतिभिर्विभूतिभिर्बहुलाभिर्नोऽस्मान् अद्य जिन्व तर्पय, यात्च्छ्रेष्ठाभिः यास्तु गच्छन्तु ब्रह्मादिषु मध्ये श्रेष्ठाभिः प्रशस्यतमाभिः। हे मघवन् हे शूर ता एवोतिराह—या नोऽस्मान् (?) द्वेष्टि सः अधरो नीचो भूत्वा पदीष्ट पततु। यमु च द्विष्मो वयम् तमु तमपि प्राणो जहातु। अत्र बलायाः स्वरूपं शरीरसामर्थ्यसेष्टसिद्धिः, अति बलायास्तु मनसैवेष्टसिद्धिः। पक्षे अशनादिदार्ढ्यहेतुरारोग्यादिकम्, ऐकाग्र्यदार्ढ्यहेतुश्चित्तस्य प्रत्यक्षप्रावण्यं चेति योग्यतया ग्राह्यम्। ऊतिभिर्योगैश्वर्यैः। यच्छब्ददार्थः पाप्मा। उपप्रेतेत्यादयश्चत्वारो मन्त्रा महाश्रुलिरित्यादिप्रत्रट्टकस्थाः ॥२८॥

अरंवदासो न मीढुषे कराण्यहं (?) देवाय भूर्णयेऽनागाः।
अचेतयदचिता देवो अर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति ॥२९॥

ऋ. ७. ८६, ७

इस प्रकार विद्या को प्राप्त करके गौतम के आश्रम में जाकर अहिल्या का उद्धार करने पर महर्षि गौतम राम की स्तुति करते हैं: मैं भार्या-प्रदान रूपी मनोरथ को पूर्ण करने वाले आपका दास हूँ ! प्रचुर रूप से देने वाले, निर्दोष, स्वामी, आपने पाषाणवती पत्नी को चेतनवती बना दिया। अतः मेरे जैसा दास पत्नी के साथ क्रान्तदर्शी आपकी शरण ग्रहण करता है।

एवं विद्या प्राप्य गौतमाश्रमं गत्वाऽहल्योद्धरणे कृते रामं गौतमः प्रस्तौति—अरं दास इति। अहं मीढुषे भार्याप्रदानेन मनोरथवर्षिणे देवाय राज्ञे रामाय दासो न दास इव अरं कराणि दिव्यगन्धपुष्पादिना अलङ्करवाणि। भूर्णये बहुप्रदात्रे। अनागाः निर्दोषः यतः अर्यः स्वामी देवो द्योतमानः। अचितः—कर्मणिषष्ठी, चेतनारहितां पाषाणभूतां जायाम् अचेतयत् चेतनावतीं कृतवान्। अतो मादृशस्तव दासो गृत्सम् "प्राणो वै गृत्स" इति श्रुतेः। प्राणवन्तं मेधाविनं जायादेहं राये धर्मसमृद्धये जुनाति अनुसरति। कवितरः क्रान्तदर्शिषु श्रेयान्। पक्षेऽहल्या सहधर्मचारिणी शुभवासना। गौतमो धर्मः। इन्द्रो धर्माभासःपाखण्ड-धर्मः, चेतनाभिभूतासती रामाश्रयात्पुनर्धर्मसाहचर्यं लेभे इति। अत्रापि पूर्वमन्त्रेण अस्ति ज्यायान्कनीयस उपराम् इति भ्रात्रोः साहचर्यम्। अर्योऽचितोऽचेतयदिति

लिंगद्वयं राघवैकशरणम् ॥ २९ ॥

बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः ।
अभिवीरो अभिसत्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथ मातिष्ठ गोवित् ॥३०॥

ऋ. १०. १०३, ५

स्वयंवर को जीतने की इच्छा रखने वाले राम के देवरथ और दिव्यायुधों ने उपस्थित होकर कहा : 'बल की परीक्षा करके शिव धनुष को चढ़ाने वाले को कन्या दूँगा' ऐसी जनक की प्रतिज्ञा है । वृद्ध, वीर, मनस्वी, शत्रु का दमन करने वाले, भाइयों से घिरे हुए जनक के पास इस जयशाली रथ में चढ़कर जाइये ।

अथ स्वयंवरं जिगमिषोः रामस्य देवरथो दिव्यायुधानि चोपस्थितानीत्याह बलविज्ञाय इति । बलेविषये विज्ञायो विज्ञेयः परीक्षणीयोसि त्र्यंबकं धनुः सज्यं कृतवते कन्यां दास्यामीत्याशयवता जनकेनेति शेषः । स्थविरो वृद्धः प्रवीरोऽतिशूरः सहस्वान् मानसबलवान् । वाजी वाजो वेगः शारीरं बलं तद्वान् सहमानः शत्रुचमूविमर्दसोढा उग्रस्तासां मर्दिता । अभिवीरः सर्वतो वीरैः भ्रातृभिः परिवृतः । एतेनास्मिन्काले जनकपुरे सर्वेषां भ्रातॄणां सन्निध्यमस्तीति सूचितम् । अभिसत्वा सर्वतो बलवान् । सहोजाः मनःसङ्कल्पमात्रात् जातः, न तु कर्मणा जातः । ईदृक् सन् हे इन्द्र जैत्रं जयावहं रथम् आतिष्ठ । गोवित् गां भुवं विन्दति पालनीयत्वेनेति गोवित् राजा । पक्षे धर्मादिभिर्हृदमनाक्रान्तं मम चित्तरथम् आक्रमस्व । ततश्च धर्मादयोपि तत्रास्पदं लप्स्यन्ते इति भावः । अक्षरयोजना स्पष्टा ॥ ३० ॥

चमूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा गोविंदुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत् ।
अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति ॥३१॥

ऋ. ९. ९६, १९

शत्रुसेना को पराजित करने वाले, ईश्वर, विश्व के पोषक, पृथ्वी पालक, ब्रह्माण्ड के सारभूत, धनुष-बाण धारण करने वाले, रावण वध के लिये समुद्र को पार करने वाले, तुरीय धाम वाले आप आराधना करने पर अपने को प्रकट करते हैं ।

चम्विति । चमूः शत्रुसेनाः सादयतीति चमूषत् । श्येनः शकुनः, जीवेशयोः पक्षिणोर्मध्ये बलवान् पक्षी इश्वर इत्यर्थः । विभृत्वा विश्वस्य धारकः, पोषकश्च । गोविन्दुः गां पृथ्वी विन्दति वराहावतारे लभत इति गोविन्दुः उकारान्तत्वमार्षम् ।

ईप्स: क्षीरादिमण्डवत् ब्रह्माण्डसारभूत:। आयुधानि धनुर्बाणादीनि विभ्रत् धारयन्नस्तु। अपारभूमिमन्तं समुद्रं सचमानो गच्छन् रावणवधार्थमिति शेष:। तुरीयं धाम विश्वतैजसप्राज्ञापेक्षया चतुर्थं निरुपाधि चैतन्यज्योति:। महिम्नो महान्। आराधित: सन् विवक्ति स्पष्टीकरोति। शुद्धं ब्रह्मैवास्माभीरवैणावत्विति भाव: ॥ ३१ ॥

पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मया रेतः संजग्मानो निषिंचत् ।
स्वाध्योऽजनयन्ब्रह्म देवा वास्तोष्पतिं व्रतपां निरतक्षन् ॥३२॥

ऋ. १०. ६१, ७

जिसके कारण से राजा जनक के द्वारा बल परीक्षा की जा रही है, उस सीता की उत्पत्ति को कहते हैं: पिता रावण ने जब अपनी पुत्री को उत्पन्न होने पर 'यह कुल की नाशिका होगी' दैवज्ञों के ऐसा कहने पर त्याग दिया तो वह पृथ्वी में चली गयी और पुत्री रूप में पृथ्वी के उदर में स्थित रही और रावण के वध द्वारा देवताओं के कल्याण के लिये पृथ्वी माता के गर्भ से यज्ञस्थान को जोतने वाले जनक को प्राप्त हुई।

यदर्थं बलपरीक्षा जनकेन राज्ञा क्रियते तस्या: सीताया उत्पत्तिं भविष्य-पुराणोपबृंहितामाह—पिता यदिति। पिता रावणो यत् यदा स्वां दुहितरं उत्पन्नमात्रां इयं कुलोच्छेदिका भविष्यतीति दैवज्ञवचनात् अधि अधिकं स्कन् स्कन्नवान् दूरे त्यक्तवान्। कुत्रेत्यत आह—क्ष्मया पृथिव्या संजग्मान: संगत: सन्। रेतो। दुहितृरूपं निषिञ्चत् निषिक्तवान् भूम्युदरे तां निहितवानित्यर्थ:। तत्रापि स्वाध्य: सपरीवारस्य रावणस्य वधेन सुष्ठु कल्याणं द्यावापृथिव्योर्ध्या-यन्ति ते स्वाध्या: देवा: इन्द्रादय: तज्जीवनार्थं ब्रह्म चैतन्यम्। अजनयन्। मातृगर्भ इव पृथिवीगर्भेऽपि तामरक्षन्। न त्वसौ श्वासनिरोधेन तत्र ममारेत्यर्थ:। तथापि वास्तोष्पतिं स्थानाधिष्ठातारं गृहपतिं व्रतपां व्रतपतिं यजमानमुद्दिश्य निरतक्षन् यज्ञस्थानं कर्षितवन्त: ततश्चैनां स्थानपतिर्जनको लब्धवानिति भाव:। पक्षे पिता काम:, दुहिता श्रद्धा, वास्तोष्पतिर्यज्ञाधिकारी धर्मादिकामो, ह्यदृष्टफले व्यर्थे श्रद्धां बध्नाति। अत: कामजा श्रद्धा चेत् बोधेन संयुज्येत, तर्हि सपरिवारं काममुन्मूलयेत् अतस्तां सन्त: (?) सात्त्विकीं राजसेन कामेन दूरे त्यक्तां यज्ञादि-सत्कर्मकारी लभते इत्यर्थ: ॥ ३२ ॥

अर्वाची सुभगे भव सीते वंदामहे त्वा यथा नः ।

सुभगा ससि यथा नः सुफला ससि ॥३३॥

ऋ. ४. ५७, ६

इस प्रकार सीता की देवताओं ने कल्याण के लिए प्रार्थना की : हे सुभगे, हे सीते ! हम तुम्हारी वन्दना करते हैं, क्योंकि तुम्हीं हमें ऐश्वर्य देनेवाली और शत्रुपक्ष का नाश करने वाली हो। अतः हमारे अनुकूल हो।

एवमाविर्भूतां सीतां देवाः शमादयो प्रार्थयन्ते—अर्वाचीति। हे सुभगे ! हे सीते ! स्यति सर्वेषां रक्षणमन्तं करोतीति सीता कर्तरिक्तः। लाङ्गलपद्धती तु मुख्यस्यावयवार्थस्याभावात् सीतोत्पत्तिस्थानत्वेन सीतात्वं गौणं हे सीते त्वां वन्दामहे यथा नोऽस्माकं सुभगा ऐश्वर्यदानेन सुफला प्रतिपक्षनाशनेन असि दीव्यसे तथार्वाची अनुकूला भव ॥३३॥

इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषानुयच्छतु।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥३४॥

ऋ. ४. ५७, ७

श्री राम सीता को ग्रहण करें, जनक उन्हें राम को प्रदान करें। वह सीता हमारे लिये उत्तरोत्तर अत्यन्त सुख प्रदान करने वाली हों।

इन्द्र इति-इन्द्रो रामः सीतां निगृह्णातु वीर्यं शुल्कां तां स्वायत्तां करोतु। पुष्णातीति पूषा, जनकश्च ताम् अनु पश्चात् रामाय यच्छतु ददातु सा सीता नोऽस्माकं दुहां दोग्ध्रीणां मध्ये उत्तरामुत्तरां समाम् उत्तरोत्तरवर्षेषु 'अत्यन्तसंयोगे' द्वितीया। पयस्वती बह्वन्नप्रदा भूयादिति शेषः। पक्षे इन्द्र. शास्त्रार्थावबोधः। सीतां सात्त्विकीं श्रद्धाम् पूषा धर्मः। पयो योगसिद्धिः ॥ ३४ ॥

गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्मप्रमृणन्तमोजसा।
इमं सजाता अनुवीरयध्वमिन्द्रं सखायो अनुसंरभध्वम् ॥३५॥

ऋ. १०. १०३, ६

स्वयंवर भवन में प्रवेश किये हुए राजाओं के लिये यह देववाक्य है : रुद्र के धनुष को भङ्ग करने वाले, वज्रबाहु, बल से द्रव्य को जीतने वाले यह राम अपने समान वीर मित्रों के साथ शत्रु के प्रकोप का नाश करते हैं !

ततः स्वयंवरशाला प्रविष्टेषु राजसु देववाक्यमिदम्—गोत्रभिदमिति ॥ गोत्रः पर्वतेन्द्रः येन तद्रूपं रुद्रधनुर्लक्ष्यते, त्रिपुरवधे—'रथः क्षोणी यन्ता शत

धृतिरद्रोगेधनुः' इति तस्य तद्धनुष्य स्मरणात् तद्भिदरुद्रधनुर्भिदमित्यर्थः ॥ अत्र संहितायां प्रपूर्वमन्त्रे रक्षोहा मित्रो अपबाधमा न इति पूर्वमन्त्रे च बलं विज्ञाय इति, गोत्रभिदिति (?) च लिंगात् अत्रापि गोत्रभित्पदस्य रुद्रधनुर्भित्त राम एवार्थः, न तु पर्वतपक्षशातनः शक्रः । वज्रबाहुम् अजय्यगणनीयं गृहाभिधं स्वीयं द्रव्यं जयन्तम् ओजसा बलेन प्रमृणन्तं मृन्द्रतम् अर्थाद्धनुरेव । ईदृशं रामं भोः सजाताः । समानाजाताः । भ्रातरः इममनुलक्षीकृत्य वीरयध्वं विक्रमध्वम् ॥ अन्वेचसखायो भाविनो वानराः । अनुसंरभध्वम् आद्रियध्वम्, शत्रुप्रकोपे सतीति-शेषः । पक्षे गोत्रो मेरुः तेन तत्स्थः कामगणो लक्ष्यते, तमपि तुच्छीकृत्य स्थितं गोत्रभिदं तीव्रवैराग्यवन्तम् श्रद्धां चात्मसात्कृतवन्तः सजाताः धर्मज्ञानवैराग्यै-श्वर्यादयः सखायाः शमदमादयः । इममिन्द्रं भूमिमागत्य जीवभावं । गतम् शेषं स्पष्टम् ॥ ३५ ॥

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत ।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाथास्तं विप रेतन ॥३६॥

ऋ० १०. ८५, ३३

धनुष भङ्ग हो जाने पर जनक ने सीता को लाकर, उन्हें राम को देकर कहा 'इस कल्याणमयी वधू के साथ अपने घर जाओ ।'

एवं धनुर्भङ्गे कृते जनकः सीतामानाय्याह सुमंगलीरिति । दत्वाय दत्त्वा । अस्तं स्वगृहं परेतन परावृत्य गच्छत । शेषं स्पष्टम् । पक्षे वधूः श्रद्धा, तस्याः सौभाग्यं यावद्विदेहकैवल्यं बाधेनावियोगः । अस्तं सर्वाधिष्ठानभूतं ब्रह्म ॥३६॥

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगोऽर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वाऽदुर्गार्हपत्याय देवाः ॥३७॥

ऋ० १०. ८५, ३६

तब प्राप्त हुई सीता का राम पाणिग्रहण करते हैं : 'सौभाग्य से पति के साथ सुशोभित हो; मैं तुम्हारा हाथ ग्रहण करता हूं । भगादि देवताओं ने गृहस्थ धर्माचरण के लिये तुमको मुझे दिया है ।'

ततो लब्धायाः सीतायाः पाणिग्रहणं रामः करोति गृभ्णामि इति ॥ सौभगत्वाय सौभाग्याय पत्या सह जरदष्टिर्जीर्यत्कुचग्रन्थिःयथा—असः दीप्यसे तथा—ते हस्तं गृभ्णामि गृह्णामि भगादया देवाः त्वा त्वां मह्यम् अदुर्दत्तवन्तः । गार्हपत्याय गार्हस्थ्याय । पक्षे यथा देवाः बोधस्य श्रद्धायोगं वांछति, एवं बाधापि कैवल्यं फलं प्रसोतुं श्रद्धायोगं वांछति । अक्षरयोजना सुखो ज्ञेया । एतौ द्वावपि मन्त्रौ पूर्वापरौ ॥ ३७ ॥

अयं स्तुतो राजा वन्दि वेधा अपश्च विप्रस्तरति स्वसेतुः ।
सवदनवितं रेजयत्सो अग्निं नेमिन्नचक्रमर्वतो रघुद्रुः ॥३८॥

ऋ. १०. ६१, १६

इस प्रकार सीता को लेकर अयोध्या की ओर जाते हुए राम द्वारा परशुराम पर विजय प्राप्त करने पर देवता स्तुति करते हैं : यह राजा राम देवों के द्वारा पूजित होता हुआ जामदग्न्य पर विजय प्राप्त करता है तथा अपने द्वारा निर्मित सेतु से समुद्र पर विजय प्राप्त करेगा। दान से सन्तुष्ट ऋषि ने दशरथ को वर दिया था कि 'आपका पुत्र समुद्र पर विजय प्राप्त करेगा' और चरु रूप द्वारा अग्नि को प्रेरित किया था। इस प्रकार कक्षीवान् से प्रेरित रघु रथ के चक्र के समान शीघ्रगामी हो।

एवं सीतामादायायोध्यां प्रति प्रस्थितेन रामेण मध्ये मार्गे परशुरामे विजिते देवाः अस्तुवन् (?) अयं स्तुत इति पञ्चभि । अयं रामो राजा स्तुतो, वन्दि अवन्दि च देवैः अभिवादितः यतो वेधाः जगतः स्रष्टा अपः समुद्रं तरति तरिष्यति शीघ्रमेव तथा—विप्रः विप्रं च द्वितीयार्थे प्रथमा जामदग्न्यं च तरति । यतः स्वसेतुः स्वकृतसेतुरवतरणसाधनं यस्यास्ति स तथा । अस्य शिलामयः सेतुः प्रसिद्धः विप्रेणानापदि शस्त्रं न धार्यमिति मर्यादापि स्वकृता सेतुरेव तदुल्लंघन-कर्तृत्वाद्भार्गवोप्युल्लंघनीय एव । स राजा कक्षीवन्तं येन दशरथाय वरो दत्तः समुद्रजयिनस्तव पुत्राः भविष्यन्तीति तम् अग्निं च चरुरूपेण गर्भीभवन्तं रेजयत् प्रेरितवान् । तत्र दृष्टान्तो नेमिं नेति नेमिमच्चक्रं यथाऽर्वन्तोऽश्वाननुरघुद्रुःशीघ्रगामी भवति, तद्वत्कक्षीवदादयस्त्वत्प्रेरिता इत्यर्थः । एतच्च प्रागेव दर्शितम्, अत्र जामदग्न्यो ब्राह्मणराजत्वात्सोमः । दाशरथिः क्षत्रियराजत्वादादित्य.—"सोमाऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा, आदित्यो वै देवं क्षत्रम्" इति श्रुतिभ्यां तौ च पूर्वापर-मन्त्रोक्तरीत्या कार्यकारणरूपौ, अतः तस्य कारणानभिज्ञस्य कार्यस्य कारणेनाभि-भवो युक्तः सूर्येण चन्द्रस्येव । अत्र दशबालाकिरजातशत्रुश्च दृष्टान्तत्वेन ज्ञेयौ, यत्तु रामबाणेन जामदग्न्यस्य लोका नाशिता इति तज्जगत्कारणबोधात् ब्राह्म-लौकिकमैश्वर्यं बाधितं भवतीत्येवपरम् इमे मन्त्रा विप्रातरण लिंगात्, पूर्वोक्त-कक्षीवदादिलिंगाद्वक्ष्यमाणलिंगेभ्यश्च राम पराः ॥ ३८ ॥

अधिबन्धुर्वतरणो यथा सवर्धुंधेनुमस्वं दुहध्यै ।
सं यान्मित्रावरुणा वृंजउक्थज्येष्ठेभिरर्यमणं वरूथैः ॥३९॥

ऋ. १०. ६१, १७

वह राजा एक दूसरे के विरोधी वसिष्ठ और विश्वामित्र का बन्धु है। वसिष्ठ वैतरण दाता है और विश्वामित्र यज्ञकर्ता है। दोनों के विरोध को कहते हैं : वसिष्ठ की गौ प्राप्त करने के लिये विश्वामित्र ने उन्हें करोड़ों गायें दी पर वसिष्ठ ने उन्हें स्वीकार नहीं किया और न अपनी गाय ही दी। विश्वामित्र ने अनेक प्रकार से उन्हें दु:खी किया पर वसिष्ठ की योगप्रभाव से उत्पन्न सेना द्वारा पराजित हो गये।

सद्विबन्धुरिति—स: राजा द्विबन्धु: द्वयोरन्योन्यविरोधिनोरपि वसिष्ठविश्वामित्रयोर्बन्धु: मित्रम्, सर्वात्मत्वात्सर्वसम इत्यर्थ: तावेव द्वावाह—एको वैतरणो दाता, परो यष्टा यागादिकर्ता। तयोर्विरोधप्रयोजकमाह—सबर्धुं सगर्भतादशायामपि दुग्धे इति, सबर्धुं धेनुं दोग्ध्रीम् अस्वम् अप्रसूतां यावत्प्रसूतिक्षीरदामित्यर्थ:। प्रसूत्युत्तरमेव दशाहं क्षीरं न दुग्धे "तस्माद्वत्सं जातं दशरात्रीर्न दुहन्ति" इति श्रुते:। दुहृग्ये दोग्धुं तादृशीं वसिष्ठधेनुं प्राप्तुं विश्वामित्र: कोटिशो धेनूर्वितरन्नासीत्। यागानुरोधी वसिष्ठस्तु ता: नांगीचकार, नापि स्वां धेनुं ददाविति पुराणप्रसिद्धम्। यथाक्रमं वैतरण: यत् यदर्थं मित्रावरुणयो: पुत्रं वसिष्ठम्—'मित्रावरुणयोर्दीक्षितयोरुर्वशीमप्सरसं दृष्ट्वा वासतो वरे कुम्भे रेतोऽपतत्ततोऽगस्त्यवसिष्ठावजायेताम्' इति वैदिकप्रसिद्ध:। उदर्थैर्नानाविधै: कर्मभि: सम्वृंजे हिंसितवान्, तथा यष्टापि ज्येष्ठेभि: योगप्रभावसृष्टै: वरूथै: सैन्यै: अर्यमणम् अर्यं स्वामिनमात्मानं मन्यत इत्यर्थमतं सम्वृजे इत्यनुषज्यते ॥ ३९ ॥

तद्बन्धुः सूरिर्दिवि ते धियंधा नाभानेदिष्ठो रपति प्रवेनन्।

सा नो नाभिः परमास्य वा घाहं तत्पश्चा कतिथश्चिदास ॥४०॥

ऋ. १०. ६१, १८

पूर्वोक्त मन्त्र में कहे गये राजा से नाभानेदिष्ठ नामक ऋषि स्पष्ट कहता है : 'हे शिष्य ! तुम्हारे हृदयाकाश में बुद्धिधारक ब्रह्मतत्त्व विद्यमान है। वह राजा हमारे जीवनभूत नाभि के समान नाभि के भीतर अविशिष्ट रूप से विद्यमान है। उस राजा के पश्चात् मैं नामानेदिष्ठ कौन सा तर्क करूँ ?'

स: पूर्वमन्त्रोक्तो राजा बन्धुर्वंश्यो यस्य स तद्बन्धु:। नाभानेदिष्ठो नाम ऋषि: रपति स्पष्टं वक्ति। कीदृश: सूरि: विद्वान्, तथा—हे शिष्य ते तव दिवि हार्दाकाशे धियं धा: बुद्धेर्धारक:तव परविद्योपदेशक:। प्रवेनन् ब्रह्मवित्त्वादेव अत्यन्तं कान्तिमाम्। किं रपति तदाह—सा विधेयापेक्षं स्त्रीत्वं स राजा नोऽस्माकं जीवानां सोपाधिनां नाभिरिव नाभि: मध्यं अन्तरम् उपाध्यपगमावशिष्टं रूपम्।

परमा महती त्रिविधपरिच्छेदशून्येत्यर्थः । वावेत्यर्थकौ । अस्य राज्ञः पश्चात् अनन्तरम् अहं नाभानेदिष्ठः कतिथः कतितमश्चिद्वितर्के आस अभूवम्, आसेति-लिटास्वस्याप्येतत्परोक्षमित्युक्तम् ॥ तथा हि—विष्णोर्ब्रह्मा, ततो मरीचिसुतः कश्यपः इति ततोविवस्वान्, ततो मनुः, मनोर्नाभानेदिष्ठ इति वंशो गम्यते ॥४०

इयं मे नाभिरिह मे सधस्थमिमे मे देवा अयमस्मि सर्वः ।
द्विजा अह प्रथमजा ऋतस्येदं धेनुरदुहज्जायमाना ॥४१॥

ऋ. १०. ६१, १९

यह राजा मेरे नाभि अर्थात् पञ्चकोश के अन्तर्गत शुद्ध रूप से मेरे गृह में रहता है। यह सभी का आत्मा है! सत्य रूप, प्रथम बार अव्यक्त रूप में उत्पन्न, दूसरी बार व्यक्त रूप में उत्पन्न, इसने शास्त्र तत्वों को उत्पन्न करने वाली वाणी को प्रकाशित किया है ।

इयम् अयं राजा मे मम नाभिः कोशपञ्चकान्तर्गत शुद्धरूपम् इह अस्मिन्नेव मे मम सधस्थं गृहं लयस्थानमव्याकृतमित्यर्थः ॥ कारणस्याप्ययमेवाधिष्ठानम् इमे देवीः इन्द्रियाणि च । मे मम इमे अयमेव विधेयापेक्षं बहुत्वम् । अयमहमेवास्मि । सर्वः सर्वात्मा । किं च ऋतस्य सत्यस्य वस्तुनः प्रथमजाः प्रथमं जातोऽव्यक्तरूपी । तथा द्विजाः द्वितीयं जातो व्यक्तरूपी च अह निश्चितम् इदं यमेव इदमित्थं शास्त्रतत्त्वं जायमानाऽस्यनिःश्वसितवदाविर्भवन्ती धेनुर्वाक् अदुहत् प्रकाशितवती ॥ ४१ ॥

अथासु मन्द्रो अरतिर्विभावाऽवस्यति द्विवर्तनिर्वनेषाट् ।
ऊर्ध्वा यच्छ्रेणिर्न शिशुर्दन्मक्षु स्थिरं शेवृधं सूत माता ॥४२॥

ऋ. १०. ६१, २०

यह राजा पृथ्वी पर रहने वालों में मध्यगति वाला है, तेजस्वी है, ब्रह्मचर्य व्रतनिष्ठ है, दो मार्गों का आचरण करते हुए राक्षसों का वध करता है। वन में रहकर शीत-वातादि को सहते हुए राक्षसों का वध करता है। अतः तपस्वीमार्ग का अनुसरण करता है, उच्च स्थान को प्राप्त करने की इच्छा करने वाला अल्पवय में ही शत्रुओं का दमन कर सुख को बढ़ाता है।

अथ अनन्तरम् अयं राजा आसु भूवसतिषु मन्द्रो मध्यगतिः । विभावा विशेषेण तेजस्वी । अरतिर्ब्रह्मचर्यव्रतनिष्ठः । अवस्यति अवस्यति प्राप्नोति देशान्तरं गच्छन् स्थाने स्थाने वासं करोतीत्यर्थः । अवस्यति रक्षसामन्तं करोति

वाऽर्थः । कीदृशः द्विवर्तनिः द्वे वर्तन्यौ मार्गौ यस्य सः तपस्विमार्गम्, शूरमार्गं वानुसरतीत्यर्थः । अत एव वनेपाट् वने सहते शीतवातादिकं वा रक्षसां वधं कर्तुमुत्सहते वा वनेपाट् । यत् यां राजा ऊर्ध्वा ऊर्ध्वीकृता श्रेणिः सोपानपद्धतिः तद्वार्थं । ऊर्ध्वं स्थानं जिगमिषूणामयं श्रेणिवदालम्बनीभूत इत्यर्थः । कीदृशः शिशुः अल्पवया अपि दन् दमयन् अर्थात् शत्रूनिति लभ्यते मक्षु सम्यक् यस्तं शेवृधं सुखे वर्धयितारम् । स्थिरम् अचलस्वभावम् माता कौशल्या सूत असूत अडभावश्छान्दसः ॥ ४२ ॥

मध्या यत्कर्त्वमभवदभीके कामं कृण्वाने पितरि युवत्याम् ।
मनानग्रेतो जहतुर्वियन्ता सानौ निषिक्तं सुकृतस्य योनौ ॥४३॥

ऋ. १०. ६१, ६

'अयोध्या का राज्य राम के स्थान पर भरत को दिया जाय और राम को वनवास दिया जाय' इस कैकेयी के चरित्र को कहते हैं : संग्राम के निमित्त मन्थरा और कैकेयी ने जो उपर्युक्त कार्य किया वह दशरथ के द्वारा कैकेयी को वर प्रदान करने से सम्पन्न हुआ । वनगमन के लिये राम लक्ष्मण के पिता को छोड़कर जाने पर दशरथ रामगमन को सहन न कर सके और सुकृत के उच्चस्थान स्वर्ग को सिधार गये ।

वनेपाडित्युक्तं तत्र अयोध्यायां रामाय दीयमानं राज्यं भरताय देयं रामश्च वनं प्रति प्रस्थापनीय इति कैकेयीचरित्रं निमित्तं तदाह—मध्येति । अभीके संग्रामनिमित्तं मध्यामध्यस्थाभ्यां मन्थराकैकेयीभ्यां यत्कर्त्वं कर्तव्यम् अभवत्तद् त्वत्तएवजातमिति पूर्वोदाहृतादयं स्तुत इत्येतस्मादपकृष्यते । कस्मिन्निति पितरि दशरथे युवत्यां कैकेय्यां निमित्तभूतायां कामं तस्यै वरप्रदानं कृण्वाने सम्पादयति । वियन्ता विदेशं गच्छन्तौ रामलक्ष्मणौ रेतस्तत्प्रदातारं पितरं जहतुः त्यक्तवन्तौ । कीदृशं रेतः मनानक् मनसा न अञ्चति प्रकाशत इति मनानक् रामगमनम् अनिच्छत् निर्मनस्कं मृतमिति वा । अत एव सुकृतस्य योनौ तस्यै निषिक्तं सानौ महत्युच्चस्थाने स्वर्गे वा । पक्षे निहततृष्णाताटकस्य, निरस्त कर्तृत्वाभिमान-मारीचस्य, हतफलासंगसुबाहोः, विदिताध्यात्मविद्याबलातिबलस्य, बोधि शुभ-तनत्रासनाहल्यस्यतोषितधर्मगौतमस्य, तृणीकृतब्रह्मलोक धनुषः, लब्धसीताक्रतुस्य, बाधितब्राह्मलौकिकैश्वर्यंजामदग्न्यतपसपरोक्षबोधलक्ष्मणज्येष्ठस्य अपरोक्षबोधरामस्य, देहायोध्यायां वस्तुमिच्छतः, सानुजभरतस्य, प्रवासं भरतजीवस्य च तत्र राज्यमिच्छन्तीभ्यां भोगदेहवासनाभ्यां मन्थरा कैकेयीभ्यां मध्यस्थाभ्यां यत्कर्तव्यं मनोदशरथस्य वचनं कामरावणवधनिमित्तं तन्नाध्यन्तर्यामिपनुग्रह एव हेतुः । ततः

समृद्धे द्विविधेपि बोधे मनस्तोऽपगो मनः स्वर्गपरमभूदिति । अयं मन्त्रो योग्यत्वादुपन्यस्तः ॥ ४३ ॥

दण्डा इवेद्गोअजनास आसनपरिच्छिन्नाभरता अर्भकासः ।
अभवच्च पुर एतावसिष्ठ आदित्तृत्सूनां विशो अप्रथंत ॥४४॥

ऋ. ७. ३३, ६

राम के वन चले जाने पर भरत शत्रुघ्नादि गोपालक दण्ड के समान खड़े हो गये। उनके पुरोहित वसिष्ठ ने राम के दर्शन से ही तृप्ति की इच्छा करने वाली प्रजा को और राज्य के प्रति अनिच्छुक भरत के राज्य को सम्भाला।

रामे वनगते यद्वृत्तं तदाह—दण्डा इवेति। भरताः भरतशत्रुघ्नादयः गोअजनासः गवांपालकाः दण्डाः यष्ट्य इव अकिञ्चित्कराः आसन्। परिच्छिन्नाः अल्पाः यतोऽर्भकासः कनिष्ठाः, तेषां च पुर एता पुरोहितो वसिष्ठोऽभवत् आदित् अस्माद्वसिष्ठादेव। तृत्सूनामिति तृप्सूनां वर्णलोप विकारावार्षौ रामदर्शनेनैव तृप्तिमिच्छतां विशः प्रजा अप्रथन्त प्रथा गताभरतादिषु राज्यमनिच्छत्सु वसिष्ठ एव राज्यं चकारेत्यर्थः। बोधार्थी जीवः शास्त्रगुर्वधीनोऽसक्तः सन् दैहिकं कर्माकरोदित्यर्थः ॥ मन्त्रोयं स्पष्टलिंगः ॥ ४४ ॥

ओषु स्वसारः कारवे शृणोत ययौ वो दूरादनसा रथेन ।
निषूनमध्वं भवतासुपारा अधो अक्षाः सिन्धवः स्रोत्याभिः ॥४५॥

ऋ. ३. ३३, ९

राम लक्ष्मण के वन जाने पर राम का अनुगमन करते हुए विश्वामित्र ने मध्यमार्ग में आयी हुई नदी से प्रार्थना की : 'बहन के समान हे नदी ! तुम मेरे मधुर वचनों को सुनो ! राक्षस वधादि कर्त्ता राम के तुम्हारे पास आने पर तुम्हें सुगमतापूर्वक पार हो जाने वाली हो जाना चाहिये जिसमें घोड़े राम को पार ले जा सकें।'

वनं प्रति प्रस्थितं राममनुगच्छन्विश्वामित्रो मध्ये मार्गमागतः नदीः प्रार्थयते —ओष्विति। भोः स्वसारो भगिनीतुल्याः सिन्धवो नद्यः ओषु अत्यन्तं सुष्ठु शृणोत मदीयं वचनं शृणुध्वम्। कारवे करोतीति कारुः महतः कार्यस्य रक्षोवधादेः कर्ता तस्य प्रीत्यर्थमित्यर्थः। स हि दूरात् अनसा चेष्टावता रथेन वःयुष्मान् प्रति ययौ आगतवान् ॥ अत एव निषू नितरां सुष्ठु नमध्वम् नतिं भजध्वम् स्रोत्याभिः क्षुद्रनदीभिः सह सुपाराः सुगमपाराः। अधोअक्षः रथाक्षा-

दधीवाहिन्यश्च भवत । रामायणे तु नौकया नदीतरणमुक्तं तदपि श्रुत्यंतरमूलकं कल्पान्तरविषयमिति ज्ञेयम् ॥ ४५ ॥

अतारिषुर्भरता गव्यवः समभक्त विप्रः सुमतिं नदीनाम् ।
प्रपिन्वध्वमिषयन्तीः सुराधा आ वक्षणाः पृणध्वं यात शीभम् ॥४६॥

ऋ. ३. ३३, १२

इस प्रकार नदी पार करके चित्रकूट की ओर गये राम के प्रति भरत क्या करते हैं, वह कहते हैं : राज्य को त्याग कर भरत द्वारा नदी को पार करके आने पर भरद्वाज ने सुन्दर बुद्धि वाले भरत का भली प्रकार आतिथ्य सत्कार किया । भरद्वाज ने सुन्दर सिद्धियों के माध्यम से भरत की सेना का स्वागत किया ।

एवं नदीः समुत्तीर्य चित्रकूटं प्रतिगते रामे भरतः किमकरोदित्यत आह—अतारिषु इति । गव्यवः गवा पृथिव्या युवन्ति वियुज्यन्त इति गव्यवः यौति-रत्रामिश्रणार्थः, राज्यं त्यक्तवन्त इत्यर्थः । ईदृशाः भरताः नदीनां नदीः अतारिषुस्तीर्णवन्तः तत्रापि विप्रो भरद्वाज इति पुराणात् सुमतिं शोभनमतिं भरतं समभक्त सम्यक् सेवितवान्, तस्यातिथ्यं कृतवानित्यर्थः । तदेवाभिनयति-प्रेति । भो शिष्या इषयन्तीः इच्छन्त्यः प्रीतिमत्यः सुराधा बहुसम्पदः शोभनाः सिद्धयः प्राप्तिप्राकाम्यादयः ताः प्रपिन्वध्वं प्रकर्षेण पुष्टाः कुरुत । वक्षणाः घृतकुल्याः मधुकुल्याश्च आपृण ध्वं पूरयत । ततश्च शीभम् ईश्वरत्वाभिमानिनं भरतं यात आतिथ्येन गच्छतेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

यदङ्ग त्वा भरताःसन्तरेयुर्गव्यन् ग्राम इषित इन्द्रजूतः ।
अर्षादह प्रसवः सर्गतक्त आ वो वृणे सुमतिं यज्ञियानाम् ॥४७॥

ऋ. ३. ३३, ११

तब राम के प्रति भरत ने क्या किया यह विश्वामित्र के वाक्य से ज्ञात होता है : 'हे अङ्ग महानदि । जो तुमने भरत को पार किया उससे तुम पूजा के योग्य हो । यज्ञकर्त्ताओं द्वारा तुम यज्ञ में सुन्दर बुद्धि को देने के लिये प्रार्थना की जाती हो ।' राम की आज्ञा से कठिन व्रत करते हुए भरत नन्दिग्राम में रहते हुए राज्यकार्य करने लगे ।

ततो रामं प्रति गत्वा भरतः किं चकारेत्यपि विश्वामित्रवाक्यादेवावगतं तदाह—यदंगेति । हे अंग महानदि यत् यतः त्वा त्वां भरताः सन्तरेयुस्तीर्णाः सर्त्ता वः । वरवं पूजायाम् । यज्ञियानां तव यज्ञार्हायाः सुमतिं शोभनां मतिं

नतिकरीम् आवृणे प्रार्थये । यै: भरतै: गव्यन् गां नन्दिनम् आत्मन इच्छतीति गव्यन् नन्दिस्वामिको ग्राम: नन्दिग्राम:इषित:अभीप्सितो वासार्थं नत्व योध्येत्यर्थात् सोपि ग्राम: इन्द्रजूत: इन्द्रेण रामेण प्रेरित: तत एव प्रसव: रामस्याज्ञा अह प्रसिद्धम् अर्थात् गतवती सर्वत्राप्रतिहताभूदित्यर्थ: । कीदृशो ग्राम: सर्गतक्त: सृज्यत इति सर्ग आज्ञप्तो भरत: तक्त: कृच्छ्रेण जीवितो यस्मिन् स सर्ग तक्त:, नन्दिग्रामे व्रतकृशो भरतो रामाज्ञया राज्यं चकारेत्यर्थ: ॥ ४७ ॥

न ह्रिषस्तव नो मम शास्त्रे अन्यस्य रण्यति ।
यो अस्मान्वीर आनयत् ॥४८॥

ऋ. ८. ३३, १६

तब लक्ष्मण के लिये प्रार्थना करती हुई शूर्पनखा को राम वक्रोक्ति पूर्ण वचन से मना करते हैं कि वह लक्ष्मण न तुम्हारी आज्ञा से चलता है और न मेरी आज्ञा में चलता है और न किसी अन्य की आज्ञा में चलता है । हमलोग उसके अधीन हैं, तुम हमारे अधीन नहीं हो !

ततो लक्ष्मणार्थं प्रार्थयन्तीं शूर्पणखां रामो वचोभंग्यन्तरेण निरस्यति--नहीति । स लक्ष्मण: हि निश्चितं तव शास्त्रे आज्ञाया न रण्यति न चलति मम अन्यस्य वा शास्त्रे नो नैव रण्यति । कुत: यो वीरोऽस्मान् आनयत् एतदधीना वयं न त्वयमस्मदधीन इत्यर्थ: ॥ ४८ ॥

इन्द्रश्चिद्घातदब्रवीत्स्त्रिया अशास्यं मन: ।
उतो अह क्रतुं रघुम् ॥४९॥

ऋ. ८. ३३, १७

ऐसा कहने पर भी जब वह स्वतन्त्र स्त्री नहीं लौटी तब राम ने कहा । राम ने लक्ष्मण से कहा : 'इस स्त्री का मन निरंकुश है यह राम को मारना चाहती है ।'

एव मुक्तापि सा यदाऽतिनिर्बन्धान्न निवर्तते तदा राम आह--इन्द्र इति । चिद्घेत्यनर्थकौ निपातौ, एवं उतो अहेत्येतावपि । इन्द्रो राम: तत् वक्ष्यमाणं वच: रघुं लक्ष्मणम् अब्रवीत् । किमब्रवीत् स्त्रिया मनो अशास्यमिति । कीदृशं रघुम् क्रतुम् कृणोति हिनस्तीति क्रतुस्तम् । शूर्पणखामेव तां हन्तुमिच्छन्तम् ॥ ४९ ॥

सस्नीश्चिद्धा मदच्युता मिथुनावहतो रथम् ।

एवेद्वृष्णउत्तरा ॥५०॥

ऋ. ८. ३३, १८

अथ सहसा ऊँचे कान वाली, मनवाली, कामुक शरीर वाली, इसके कान-नाक काट देना चाहिये, मारना नहीं चाहिये ! ऐसी सूचना मात्र से लक्ष्मण ने ऐसा कर दिया।

पुनःकिमब्रवीत्तदाह—सही इति । सही अश्वी ॥ तेन तयोरुच्चैः श्रवस्त्वेनास्या उच्चौ कर्णौ लक्ष्येते मदच्युता मनस्राविणो मिथुनी रथं शरीरं वहतः । गाढान्धकारे हि श्रोत्रबलेनैव दूरस्थमाह्वयितारं गच्छन्ति शब्दवेधिनश्च शत्रून्विध्यन्ति । चिद्देत्यनर्थकौ तथा वृष्णोवपुंकस्य मदस्राविणः धूरिव धूर्नासावंशः उत्तरा श्रेष्ठतरा । एवेदिति एवमेवेति छेदनाभिनयः प्रदर्श्यते । अस्याः कर्णनासमेव छतव्यं न त्वियं हन्तव्येति सूचितमात्रे लक्ष्मणस्तत्कृतवानित्यर्थः ॥ ५० ॥

अधः पश्यव मोपरि सन्तरां पादकौ हर ।

मा ते कशप्लकौ दृशन्स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ ॥५१॥

ऋ. ८. ३३, १९

उससे उत्पन्न विघ्न की सम्भावना से राम सीता को समझाते हैं : 'हे सीते ! तुम्हें नीचे देखना चाहिये और ऊपर मुझे देखना चाहिये। पैरों से अतिविनय से चलना चाहिये और तुम्हारी केश सज्जा नहीं दिखनी चाहिये। इस प्रकार संयम से रहने वाली स्त्री पर ईश्वर प्रसन्न होते हैं।'

ततस्तन्निमित्तविघ्न सम्भावनया रामःसीतामनुशास्ति—अध इति । हे सीते त्वम् अधः पश्यस्व, न तु तिर्यक् सम्मुखं वा पुरुषान्तरदर्शनं परिहरस्वेति भावः ॥ मोपरि उपर्यपि मा पश्यस्व, तत्रापि खेचराणां दर्शनस्य सम्भाव्यमानत्वात् । पादकौ पादौ सन्तराम् अतिसम्यक्तया विनयेन हर चालय । ते तव कशप्लकौ गुल्फौ मा दृशन् मा दृश्यौ भूतम् ॥ हि यस्मात्स्त्री स्वावयवद्वारेण ब्रह्मवित् बभूविथ पूर्वं जाता संयमवत्यां ब्रह्मविदुत्पद्यते, व्यभिचारिण्यां तु दुरात्मानोवञ्चकेभ्यो राक्षसेभ्यः आत्मानं पाहीति भावः । पक्षे विषयस्पृहया बाध्यमाने परोक्षबोधेऽन्तर्यामिप्रेरितः तद्वत्तुविषयघ्राणश्रवणे छिन्नवान् ॥ ५१ ॥

स इद्दासन्तु वीरवं पतिर्दन् षळक्षं त्रिशीर्षाणं दमन्यत् ।

अस्य त्रितोन्वोजसा वृधानो विपा वराहमयो अग्रया हन् ॥५२॥

ऋ. १०. ९९, ६

तब शूर्पनखा की विरूपता को देखकर राम लक्ष्मण के वध के लिये आये हुए खर-दूषण और त्रिशिर को राम ने मार डाला। दुष्टों का दमन करने वाले राम ने संसार के दूषण रूप दूषण को, बहुत स्वर करने वाले खर को और छः नेत्र तथा तीन सिरवाले त्रिशिर को मार डाला। इनके द्वारा खर-दूषणादि को मारने वाले विशिष्ट बल से त्रित नामक अंगुली के अग्रभाग के नख से वराहाकार-दानव मारा गया।

ततः शूर्पणखां विरूपितां दृष्ट्वा तद्धृयरामलक्ष्मणवधार्थमागतान् खरदूषण-त्रिशिरस्संज्ञान् रामो जघानेत्युच्यते—कं नश्चिश्रीयेण मन्त्रेण स एव रामः दासं लोकान् उपक्षिण्वन्तं दूषणं तु वीरवं महास्वनं खरं षडक्षं त्रिशीर्षाणं नेत्रषट्कवन्तं त्रिशिरसं च पतिः पाता दन् दुष्टानां दमकः दमन्यत् दमितवान् हतवान्। अस्यैव दूषणादिहन्तुः विशिष्टेन ओजसा बलेन वृधानो वर्धमानः त्रितानाम अंगुल्या अयोअग्रया अयोवत्तीक्ष्णनखया वराहं महान्तं वराहाकारं दानवं हन् हतवान्। स्वयं खलान् हन्तीति किं चित्रम् अनेनानुगृहीता अपि तान् घ्नन्तीत्ययमेवाभय-कामैराराधनीय इति भावः ॥ ५२ ॥

यद्चरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं ननु पुरा विवित्से ॥५३॥

ऋ. १०. ५४, २

इस प्रकार खर आदि को मारकर स्थित राम की देवता स्तुति करते हैं: 'हे राम! जनस्थान में आपने अपने महान बल से राक्षसों का नाश कर दिया। पौराणिक जिन युद्धों को कहते हैं वह आपकी माया है। पहले अथवा वर्तमान काल में शत्रु का नाश करना 'आप निश्चित रूप से जानते हैं।'

एवं खरादीन्हत्वा स्थितं रामं देवाः स्तुवन्ति तां तृतीयेन मन्त्रेण—यदचर इति। हे इन्द्रजनेषु जनस्थानेषु तन्वा शरीरेण वावृधानो महीयमानः बलानि सामर्थ्यानि प्रब्रुवाणःकथयन् रक्षांसि निघ्नन् यदचरः सञ्चारं कृतवानसि, यानि च युद्धान्याहुः पौराणिकाः, सा ते तव मायेत् मायैव। अतस्त्वम् अद्य पुरा वा शत्रुं शातनीयं ननु निश्चितं न विवित्सेन जानासि सर्वेषामन्तरात्मत्वादिति भावः। अत्र खरो मानः, दूषणो मत्सरः, त्रिशिराः धनविद्याभिजनजन्यविघो मदः तान् स्पृहासहितान्निघ्नन्योगी मायामात्रं जगदिति पश्यतीत्यर्थः ॥ ५३ ॥

स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च योनिम्।

पूर्वाह्णे अश्वान्युयुजे हि बभ्रून्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद ॥५४॥

ऋ. १०. ३४, ११

इस वृत्तान्त को शूर्पनखा के मुख से सुनकर रावण ने क्या किया वह कहते हैं : नाक-कान विहीन शूर्पनखा को देखकर रावण ने राम की पत्नी सीता को, अग्निहोत्रादि को और वंश को दुःखी करने वाला कार्य करने का निश्चय किया। रथ में घोड़े पहले से ही जुते थे। उस रथ से धर्मद्रोही रावण राम की अग्निशाला के समीप मारीचि के साथ आया।

इमं वृत्तान्तं शूर्पणखामुखादाकर्ण्य रावणः किं चकारेत्यत आह—स्त्रियमिति। स्त्रियं निकृत्तकर्णनासां शूर्पणखां दृष्ट्वाय दृष्ट्वा कितवं कपटमृगरूपासिवेषधारिराक्षस-द्वयं कर्तुं स्त्रीदर्शनेन क्षुब्धं सत् अन्येषाम् अन्यस्य रामस्य जायां सीतां सुकृतम्, अग्निहोत्रादिकं योनिं वंशं च तताप तापि तवत्। जायाहरणेनैव त्रयमपि ततमभूदित्यर्थः। हि यतः बभ्रून् अश्वान् पूर्वाह्णे एव युयुजे रथे, तेन च रथेन वृषलो धर्मद्रोही रावणःअग्नेरन्ते रामाग्निशालासमीपे पपाद जगाम मारीचेन सहेति शेषः ॥ ५४ ॥

इन्द्रतुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तं वज्रिन्वीर्यम्।

यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्वं माययावधीरर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥५५॥

ऋ. १. ८०, ७

तत्पश्चात् मारीचि का वध करने वाले राम की ऋषि स्तुति करता है : 'हे राम ! तुम्हारा पराक्रम अव्याख्येय है तुम रुद्र का धनुष भङ्ग करने वाले हो। हे वज्रिन् ! मानव रूप धारण करके आपने जो माया से मृग का रूप धारण किये हुए मारीचि का वध किया है वह आपकी वंश परम्परा के अनुकूल है।

ततोहतमारीचं राममृषिःस्तौति-इन्द्रमिति। हे इन्द्र तुभ्यमित् तवैव वीर्यं सामर्थ्यम् अनुत्तं क्वचिदप्यपराभूतम्। हे अद्रिवः अद्रिं रुद्रचापरूपं मेरुं वाति हिनस्तीत्यद्रिवः। हे वज्रिन् अत्यादरेण बहुकृत्वः सम्बोधयति। यत् यत्.ह प्रसिद्धं त्यं परोक्षं मायिनं मृगं मारीचं त्वं मायया मानुष देहरूपयाऽवधीर्हत-वानसि। यतः स्वस्य राजोचितं कर्म अन्वर्चन् स्ववंशपरम्परागतमनुपूजयन्। राज्ञां मृगया उचितेत्येव हतवानसि, न तु द्वेषबुद्ध्या सर्वान्तरत्वात्तवेति भावः ॥ ५५ ॥

यो वः सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव ।
तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहं प्राचीस्तदृतं वदामि ॥५६॥

ऋ. १०. ३४, १२

राम और लक्ष्मण के दूर चले जाने पर उनकी अनुगामिनी सीता को अकेली देखकर रावण उनके पास आया । तब वह निवेदन करते हुए रावण से बोलीं : हे राक्षसों की सेना के नायक, प्रमुख राजा ! तुम्हारा मैं शीघ्र ही नाश करूँगी । मुझे तुम्हारे धन की आकांक्षा नहीं है । मैं यह सत्यवचन दशों दिशाओं को साक्षी मानकर कह रही हूँ !

ततो दूरस्थे रामे लक्ष्मणे च तदनुयायिनि शून्ये सीतां प्रार्थयमानं रावणं प्रति सीता प्राह—यो व इति ॥ यो वो रक्षसां महतो गणस्य सेनानीः । यो वा वो महतः व्रातस्य प्रथमो मुख्यो राजा बभूव । तस्मै ते कृणोमि निहन्मि शीघ्रमेव नाशयिष्यामि । धना भवदीयानि धनानि न रुणध्मि न कांक्षे । तदिदम् ऋतं वाक्यं दश प्राचीः प्रागादिदिशः प्रति वदामि ॥ ५६ ॥

इनो राजन्नरतिः समिद्धो रौद्रो दक्षाय सुषुमानदर्शि ।
चिकिद्विभाति भासा बृहता सिक्नीमेति रुशतीमपाजन् ॥५७॥

ऋ. १०. ३, १

इस प्रकार निरस्त किये गये रावण को सीता हरण के लिये उद्यत देखकर अग्नि ने सोचा । मन से राम को सम्बोधित किया । 'हे राजन् ! बलशाली, काम सुख को नहीं प्राप्त करने वाला, प्रज्वलित कामाग्नि वाला, भयङ्कर, साहस से समर्थ दिखने वाला, आपकी शक्ति को जानने पर भी विपरीत कार्य करने वाला यह रावण कालरात्रि के समान इस सीता को चुरा कर ले जाता है ।'

एवं निरस्तं रावणं सीताहरणोद्यतमालक्ष्याग्निरचिन्तयत्-इनोराजन्निति । मनसैव रामं सम्बोधयति । हे राजन् इनः बलीयान् अरतिः अलब्धकामसुखः समिद्धः कामाग्निना प्रदीप्तः रौद्रो भयङ्करः दक्षाय साहसाय सुषुमान् समर्थः अदर्शि दृष्टः । चिकित्त्वत्सामर्थ्यं जानन्नपि विभाति वैपरीत्येन दीप्यते, भासा दीप्त्या बृहता बृहत्या असिक्नीं कालरात्रिमिव कृष्णां रुशतीं दह्यमानाम् एति आयाति । अपाजन् अपसरिष्यन्नेनां चारयित्वेति शेषः ॥ ५७ ॥

कृष्णां यदेनीमभि वर्पसाभूज्जनयन्योषां बृहतः पितुर्जाम् ।

ऊर्ध्वं भानुं सूर्यस्य स्तभायन्दिवो वसुभिररतिर्विभाति ॥५८॥

ऋ. १०. ३, २

जब रावण बलपूर्वक कालरात्रि के तुल्य विवर्ण सीता को ले जाने लगा तो उन्होंने अपने वास्तविक स्वरूप को तिरोहित करके छाया सीता को जन्म दिया और उनके वास्तविक रूप को अग्नि ने छिपा लिया। छाया सीता को लेकर रावण, जब तक देवता उसे रोक पाते, आकाशमार्ग से उड़ गया।

कृष्णामिति—स एवं चिन्तयन्नग्निर्यत् यदा कृष्णां कालरात्रितुल्याम् एनीं विवर्णां सीतां वर्सा वारयन् यासीति, वर्पः स्वं रूपम् तेन कवचेनैतदाच्छादकेन योगबलेन अभ्यभूत तिरोहितां कृतवान्। किंभूतः—बृहतः ब्रह्मणः सङ्कल्पादैवेत्यर्थः। योषामन्यां स्त्रियं छायासीतां जनयन्। पितुः रामस्य जां जायामिव जायां तदा तां गृहीत्वा अरतिः रावणः ऊर्ध्वम् आकाश मार्गं सूर्यस्य दिवः द्युसम्बन्धिनो देवतागणस्य च वसुभिर्देवताविशेषैः सह तेषां सर्वेषां भानुं करं हस्तमिति यावत् स्तभायन् स्तम्भयन् विभाति। रावणेन आकाशमार्गेण नीयमानां सीतां रावणादाच्छेत्तुं कोपि प्रभुर्नाभवदित्यर्थः। पक्षे स्पृहया प्रेरितो मारीचो दम्भः, रावणः कामः तौ सीतां श्रद्धां दम्भोन्मुखतया परोक्षमपरोक्षं च बोधं रामलक्ष्मणाख्यं दूरे कुर्वन्तीं कामो जहार। अग्निः यज्ञः स तु तस्याः सात्त्विकं रूपं गोपितवानित्यर्थः॥ मन्त्रो मन्त्रयेत्यग्निसमन्वेऽग्निः सीतां रामाय समर्पितवानिति दर्शनादेतावपि रामपरौ॥ ५८॥

स ईं वृषा न फेनमस्यदाजौ स्मदापरैदपदभ्रचेताः।
सरत्पदा न दक्षिणा परावृङ्न तानु मे पृशान्यो जगृभ्रे ॥५९॥

ऋ. १०. ६१, ८

जिस प्रकार क्रोधाविष्ट महोक्ष मुख और नासिका से फूत्कार करता है उसी प्रकार सीता के लिये राम ने राक्षसों से युद्ध किया। दक्षिण दिशा की ओर सीता प्राप्ति के लिये उनके पदचिह्नों को खोजते हुए, सीता प्राप्तिसूचक शकुन भी न प्राप्त होने से श्री राम दुःखी हुए।

स इति। स हृतदारो रामभद्रः ईम् एनां सीतां निमित्तीकृत्य आजौ राक्षसैः सह संग्रामे अस्यत् आस्यान् बाणान्प्रक्षिपत्। तत्र दृष्टान्तः वृषा न फेनमिति। यथा महोक्षः क्रोधाविष्टः फेनविप्रुषो मुखनासिकेन फूत्कारं कुर्वन्नस्यति तद्वत्।

तत्र हेतुः—दभ्रचेताः स्थूलबुद्धिः आ इति स्मृत्यर्थो निपातः स्मत् अस्मत् परा परोक्षम् अपैत् अपगतोदाग्हर्तेति प्रत्यक्षश्चेत्स्यात्तर्हि सद्य एव निहतः स्यादिति भावः। ततः किं चकारेत्याह-सरदिति। दक्षिणा दक्षिणप्रदेशं पदान यथाऽश्वादीनां पदमन्विष्यते भूमौ तथा पदेनैव सरत् सीतार्थम इतस्ततो गच्छन् परावृक् पराभिभूतः शोकेनेत्यर्थः। ताः प्रसिद्धाः पृशन्यः पृच्छन्तं नयन्ति इष्टं देशं प्रापयन्ति ते पृशन्यः शुभाशुभफलसूचकाः पशुपक्षिणः मे मां न अनुजगृभ्रे अनुगृहीतवन्तः। सीताप्राप्तिसूचकं शकुनमपि न जायत इत्यत्यन्तं शोकं कृतवानित्यर्थः॥ पक्षे श्रद्धां विना विकलो बोधः दक्षिणेन ऋजुना धर्ममार्गेण श्रद्धाप्राप्तिस्वाभ्युदयाय कामयत इति छायार्थः॥ अयं मन्त्रो मध्यायरकर्त्तीयः॥५९॥

विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वा द्या ममार स ह्यः समान॥६०॥

ऋ० १०. ५५, ५

संग्राम में बहुत से वीरों को पराजित करने वाले, रुलाने वाले, युवा, सीताहरणकर्त्ता रावण को वृद्ध जटायु ने रोका, जिसे रावण ने मार डाला। क्योंकि सभी राक्षसों को जीतने के लिए इच्छुक इन्द्र ने भविष्य के लिये सोचा कि यदि आज रावण मारा जायेगा तो अन्य राक्षस शेष रह जायेंगे और राम भी अपने कार्य से निवृत्त हो जायेंगे, इसलिये उन्होंने रावण द्वारा जटायु का मरण करा दिया।

विधुमिति—समने संग्रामे विधुं बहूनां शूराणां विधूननकरं दद्राणं द्रावणकरं युवानमपि सन्तं रावणं सीताहर्तारं पलितो वृद्धोपि अग्रिममन्त्रादरुणपुत्रः सुपर्ण इति गम्यते॥ तेन जटायुनामा पक्षी जगार निगीर्णवान्॥ तर्हि सिद्धं न समीहितं नेत्याह—देवस्येति। देवस्य सर्वान्राक्षसान् जेतुमिच्छतः इन्द्रस्य काव्यं क्रान्तदर्शित्वं पश्य। यद्यद्यैव रावणो वध्यते तर्हीतरेषां रक्षसां क्षयो न भविता, इत एव रामो निवृत्तो भवेत्, तदर्थं यो ह्यः पूर्वेद्युः समान सम्यगचेष्टत रावणाभिभवं कृतवान्, सः अद्य परेद्युर्ममार॥ सर्वराक्षसक्षयार्थं जटायोरपि मरणं देवेन्द्रेणैव सम्पादितमित्यर्थः॥ पक्षेननोदशरथस्य तापशामकत्वात् विवेकजटायुस्तत्सखा, सोपि श्रद्धां हरन्तं कामं निरोद्धुं न शशाक प्रत्युत स्वयमेव नष्ट इत्यर्थः॥६०॥

शाक्मना शाको अरुणः सुपर्ण आ यो महः शूरः सनादनीळः।
यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता॥६१॥

ऋ० १०. ५५, ६

उत्साही, अरुणपुत्र, महाशूर, अनिकेत, दूरगामी जटायु ने यह जो सोचा कि मैं रावण को मारकर सीता को राम को दे दूंगा, तो यह सत्य है, क्योंकि मरने पर भी उनका सङ्कल्प निष्फल नहीं हुआ क्योंकि स्पृहणीय सीतारूप धन को राम रावण को मारकर जीतेंगे।

शावमनेति—सुपर्णो जटायुर्यच्चिकेत यत् ज्ञातवान्, अहं रावणं हत्वा रामाय सीतां दास्यामीति, तत् सत्यमित सत्यमेव, न तु मोघं न निष्फलम्, मृतस्यापि साधोः सङ्कल्पोऽन्यथा न भवतीत्यर्थः। अतः स्पार्हं स्पृहणीयं वसु सीताख्यं धनं रामो रावणं हत्वा जेता जेष्यति उत दाता अपि च रक्षोधनस्य। कीदृशः सुपर्णः शावमना शाकः शवनोत्यमेनेत्युत्साहेन शक्तिमान्। अरुणो रामे रागवान् अरुणपुत्र-त्वाद्वाऽरुणः। महो महान् शूरः। सनात् सर्वदा अनीडः अनिकेतः महायोगीत्यर्थः। पक्षे यद्विवेकेन दृष्टं तत्सर्वंवावसरे प्राप्ते बोधः समर्थयत इति भावः। सुपर्णो दूरगामी ॥ ६१ ॥

ऐभिर्ददे वृष्ण्या पौंस्यानि येभिरौक्षद्वृत्रहत्याय वज्री।
ये कर्मणः क्रियमाणस्य मह्न ऋते कर्ममुदजायन्त देवाः ॥६२॥

ऋ. १०. ५५, ७

किस प्रकार वह सङ्कल्प सत्य हुआ वह कहते हैं: 'वृत्र वधरूप पाप के फलस्वरूप मानो इन्द्रादि देवताओं ने जो मनुष्य और पशु का रूप धारण करके राम की सहायता की तो, ये देवता वानर योनि में सेतुबन्धन आदि कार्य से रावणवध-कार्य को करने में महान कार्य करने वाले हो गये!'

कथं तत्संकल्पः सत्योऽभूदत आह-ऐभिरिति। एभिः देवैः वृष्ण्या वृष्णो वर्षणशीलानां पशूनां चिह्नानि लांगूलवत्त्वचतुष्पादचारित्वादीनि पौंस्यानि पुंसां मानुषाणामिमानि चिह्नानि हस्तादायित्वत्रिकोपवेशित्वादीनि वानरेषु दृष्टानि आददे आददिरे आत्तानि। एकत्वमार्षम् येभिः येरुपात्तैश्चिह्नैर्युतो वज्री इन्द्रः वालिरूपी वृत्रहत्याय दण्डरूपाय मरणाय औक्षत् रेतःसेकं कृतवान् कामेयीं चलचित्ततां प्राप्य कनिष्ठभ्रातृभार्यां दुहितृकल्पां गत्वा वाली वध्यत्वं प्रापेत्यर्थः। ये देवाः ऋते कर्मम् वानरयोनिप्रापकं दुरितं विनापि क्रियमाणस्य करिष्यमाणस्य सेतुबन्धनराक्षसवधादेः कर्मणः मह्ना माहात्म्येन उदजायंत वानररूपेण महत्कर्म कर्तुमाविर्भूता इत्यर्थः॥ तैरेव सहायैर्जटायुसंकल्पं रामः साधितवानिति भावः॥ पक्षे बोधसहायाः श्रोत्रेन्द्रियादयः ध्यानार्थमन्तर्मुखाः वेदान्तश्रवणार्थं वहिर्मुखाश्चेति ज्ञाऽज्ञचिह्नानि धारयन्ति, तत्रापि महानपि वहिर्मुखत्वेन प्रमाद्यति, अतोऽन्तर्मुखतयेव

सर्वदा स्थेयमित्यर्थः ॥ अस्मिन् पक्षे ऋते कर्म ब्रह्म क्रियमाणस्य कर्मणो योगधर्मस्य माहात्म्येन देवाःसाधकाः उदजायन्त ब्रह्मभावं गता इति योज्यम् ॥ ६२ ॥

नीचीनबारं वरुणः कवन्धं प्रससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम् ।
तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम ॥६३॥

ऋ. ५. ८५, ३

सुग्रीव की मित्रता से पहले कबन्ध वध का वर्णन करते हैं जो संसार का स्वामी है, जिसने द्युलोक और पृथ्वी लोक की रचना की है उसने जिसका मुख वक्षस्थल में है। इस प्रकार कबन्ध नामक राक्षस को मारकर उसके रक्त से पृथ्वी को सींचा।

सुग्रीवसख्यात्प्राक्कबंधवधमाह-नीचीनेति । ये विश्वस्य भुवनस्य राजा रोदसी अंतरिक्षं च प्रससर्ज, सः नीचीनबारम् अधोद्वारं वक्षोमुखं कबन्धं नाम राक्षसं वरुणो वृण्वानो भूत्वा तेन कबन्धेन भूम भूमिं व्युनत्ति आर्द्रां करोति तस्य शोणितैरिति भावः ॥ वृष्टिर्यवं न यवमिवेत्यार्द्रीकरणे दृष्टान्तः ॥६३॥

भीताय नाधमानाय ऋषये सप्तवध्रये ।
मायाभिरश्विना युवं वृक्षं सं च वि चाचथः ॥६४॥

ऋ. ५. ७८, ६

वानरों के साथ राम की मित्रता के प्रसङ्ग का वर्णन करते हैं। 'सम्बन्धिजनों द्वारा सताये गये और सप्तवध्रि ऋषि के आश्रम में रहने वाले सुग्रीव ने राम-लक्ष्मण से कहा कि अश्विनीकुमारों के समान सुन्दर, माया से मानव रूप धारण किये हुए आप दोनों युवा कुमारों ने पशुदेह को प्राप्त मुझे दर्शन देकर अनुग्रहीत किया है।'

वानरैः सह रामस्य सख्यप्रसंगमाह-भीतायेति अत्रेदं पुराणान्तरे उपाख्यायते, जाम्बवान् ब्रह्मणोंश ऋक्षराजो ज्ञातिभिर्निरस्तः स्वं राज्यं प्राप्तुं तपश्चकार, तं च द्वौ युवानावागत्य ऊचतु आवाभ्यामाप्यायितस्त्वं शत्रून् जेष्यसीति, स पुनस्तयोर्ज्येष्ठाय स्वदुहितरं दातुकामो यावत्किंचिद्विवक्षयति तावदेवान्तर्हितौ, तावेव पुनस्त्रेतायुगे सुग्रीवसहितः सन्ददर्श, तदा तौ दृष्टपूर्वौ प्रत्यभिज्ञाय सुग्रीवमुपदिदेश, एताभ्यां सख्यं कुरु, एतौ तव कार्यं साधयितुं क्षमाविति, ततः सुग्रीवो हनुमद्द्वारा रामेण सह सख्यं चकार, ज्येष्ठभ्रातुः राज्यं तेन हृतान्स्वदारांश्चेच्छन् इति ॥ तत्र जाम्बवानार्तो भक्तः, सुग्रीवस्त्वर्थार्थी, हनूमांस्तु निष्कामः एतेषां क्रमेण रूपाण्याह-भीतायेति । भीताय ज्ञातिभ्यः यतः नाधमानाय उपतप्ताय ऋषये भूतपूर्वगत्या

ब्रह्मणे सर्वमन्त्रद्रष्ट्रे सप्तवध्रये वध्रिश्चर्मरज्जुः सप्तसंख्याः त्वगसृङ्मांसमज्जास्थिमेदः शुक्रसंज्ञा धातवः एव वध्रिरूपाणि बन्धनानि यस्य तस्मै सप्तवध्रये । पार्थिवं पशुदेहं प्राप्ताय मह्यं मामनुग्रहीतुं भो अश्विना-अश्विनीकुमारवद्रतिरमणीयौ तच्छरीरोपाधिकौ वा सूत्रान्तर्यामिणौ मायाभिः मायाकृतेन मानुषवेषेण युवं युवां वृक्षं मदाश्रितं तपःस्थानभूतं समचथः समागतौ च । अनन्तरं मय्यनुग्रहं कृत्वा व्यचथश्च विगतौ च इतिस्थैवादर्शनं गतौ ॥ अयं मन्त्रः सकामभक्तानां गतिर्विलम्बेन भवतीति प्रकाशयति तथाश्विधश्च जाम्बवानिति योग्यत्वात्प्रकृतोपयोगि कथासूचकत्वाच्चोपन्यस्तः । यद्वा पुर्यष्टकेन प्राणज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियमनोभूततमः कामकर्मात्मकेन सर्वे बद्धाः, एते ऋक्षवानरास्तु ऋते कर्मसुदजायन्त देवाः इत्युक्तेः कर्म बन्धहीनत्वात्सप्तवध्रयः । यद्यपि-"संयोगा विप्रयोगान्ताः" इति न्यायेन व्यचथ इत्येव वक्तव्यम् "लोकतः परमार्थतोपि सकृद्विभातो ह्येष"-इति श्रुतेः सकृद्दृष्टस्यात्मनो वियोगासम्भवः, तथापि जाम्बवतः कामग्रस्ततयाप्तमपि दर्शनं न कृतकृत्यतामनयदिति ज्ञापनार्थं व्यचथ इति । अत एव रामावतारेऽपि भगवान्न जाम्बवतो जामातृत्वमंगीचकार एकपत्नीव्रतव्याजेन, किं तु कृष्णावतारे विलम्बेनेति स्मर्यते ॥ ६४ ॥

देहि मे ददामि ते निधेहि मे नि ते दधे ।
निहारमिन्मे हर निहारं निहरामि ते ॥६५॥

वासं. ३. ५०,

सुग्रीव ने राम से कहा : 'पहले आप मुझे दीजिये, बाद में मैं आपको दूंगा । पहले मुझे मेरा धन मेरी पत्नी प्राप्त कराइये तत्पश्चात् मैं आपको आपकी पत्नी प्राप्त कराऊँगा !'

मे मह्यं पूर्वं देहि पश्चादहं सुग्रीवस्तु पूर्वं स्वार्थः पश्चादाराधनमित्यक्रमेण भजमानः प्राकृतस्तत्स्वरूपमाह-मन्त्रो देहि म इति-ते तुभ्यं ददामि, तथा मे मदर्थं निधेहि--अहमपि ते निदधे इति पूर्ववत् ॥ तथा निहारं प्रेषणीयं द्रव्य मे मह्यम् इत् एव पूर्वं हर आपय, पश्चादहं ते तुभ्यं निहारं निहारामि आपयामि । भृत्यद्वारा एवं प्रार्थितो रामः सुग्रीवं पूर्वमनुगृह्य पश्चात्तत. स्वकार्यसिद्धिमकामयतेत्यर्थः ॥ ६५ ॥

एवा हि त्वामृतुथा यातयन्तं मघा विप्रेभ्यो ददतं शृणोमि ।
किं ते ब्रह्माणो गृह्णते सखायो ये त्वाया निदधुः काममिन्द्र ॥६६॥

ऋ. ५. ३२, १२

सकाम सुग्रीव को अनुगृहीत करने वाले राम से निष्काम हनुमान ने कहा : 'शास्त्रीय दृष्टि से अन्तर्यामी होने से आप यज्ञादि के विषय में यत्न करने पर फल देते हैं, ऐसा मैंने सुना है। किन्तु आपसे सम्बन्धित मेरे जैसे लोग देने पर भी ग्रहण नहीं करते क्योंकि सखा निष्काम दास होते हैं। इसलिये आपका जो भी कार्य है, वह सब मैं करूँगा परन्तु उसके बदले में मैं कुछ भी नहीं चाहता।'

एवं सकामौ जाम्बवत्सुग्रीवावनुगृह्य निष्कामे हनुमत्यनुग्रहं चिकीर्षुं रामं हनूमानाह—एवा हीति ॥ एव एवं शास्त्रदृष्टरीत्या हि निश्चितं त्वाम् ऋतुथा काले काले यातयंतम् अंतर्यामितया यज्ञादौ विषये यत्नं कारयन्तं तत्फलभूतानि मघा मघानि धनानि च विप्रेभ्यः श्रद्धावद्भ्यो ददतं शृणोमि परन्तु—किं कथं ते त्वत्संबंधिनो ब्रह्माणो ब्राह्मणाः मादृशा गृह्णते गृह्णन्ति, अपितु दीयमानमपि न गृह्णन्तीत्यर्थः। सखायो निष्कामदासाः। अत एव ये त्वा या त्वयि कामं निदधुः, त्वत्काम्ययैव सर्वमहं करोमि न त्वत्तोऽन्यद्वाञ्छामीत्यर्थः। इदं मन्त्रत्रयं कथानुपयुक्तगुणकथनपरत्वात्प्रसंगादुपन्यस्तम् ॥ ६६ ॥

कथा देवानां कतमस्य यामनि सुमंतु नाम शृण्वतां मनामहे।
को मृळाति कतमो नो मयस्करत्कतम ऊती अभ्यावर्वर्तति ॥६७॥

ऋ. १०. ६४, १

'मुझे दो मैं तुम्हें दूँगा' इस प्रकार कहने वाले सुग्रीव के बालिवध के कार्य को करके राम अपने कार्य के विषय में सोचते हैं : 'मेरे वचनों को सुनने वाले वानर रूपी देवताओं के मध्य में किसके नाम और स्वरूप को जानूँ जो सीता की खोज के विषय में मुझे सुखी करेगा और सीता रूपी नवमूर्ति को लौटायेगा—यह मैं कैसे जानूँ? अर्थात् मैं उस उपयुक्त पात्र को नहीं जानता हूं।'

देहि मे ददामि त इति वदतः सुग्रीवस्य कार्यं बालिवधाख्यं येभिरौशद्वृत्रह-त्याय वज्रीति सूचितं पूर्वमेव कृत्वा रामः स्वकार्यं चिन्तयते—कथा देवाना-मित्यादिना। कथा केन प्रकारेण शृण्वतां मद्वाक्यमाकर्णयतां देवानां वानररूपाणां मध्ये कतमस्य नामस्वरूपं सुमंतु शोभनतया मंतव्यं मनामहे जानीमहे। यामनि सीताप्रवृत्त्यर्थे गमने विषये को नोऽस्मान् मृळाति सुखयेत्। कतमो वा नोऽस्माकं मयः सुखं करत् कुर्यात्। कतमो वा ऊती अस्मदीयां विभूतिं सीताख्यां श्रियम् अभ्यावर्वर्तति अभ्यानयति, तं न जानीमः इति भावः ॥ ६७ ॥

ऋतूयंति ऋतवो हृत्सु धीतयो वेनंति वेनाः पतयंत्या दिशः।

न मर्डिता विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु मे अधिकामा अयंसत ॥६८॥

ऋ. १०. ६४, २

सत्यसङ्कल्प, मेरी सेवा की इच्छा करने वाले, बुद्धिमान्, वानर रूपी देवता मेरे कार्य के लिये सभी दिशाओं में जाते हैं और मेरे मनोरथ को पूर्ण करते हैं।

क्रतवः साक्षात् सत्यसंकल्पा इत्यर्थः। क्रतूयति क्रियामात्मन इच्छन्ति अस्मत्सेवां कर्तुमिच्छन्ति। हृत्सु धातयः हृदयेषु धीमन्तः वेनंति शोभन्ते। वेनाः कमनीयाः। आसमंतात् दिशः पतयन्ति गच्छन्ति। एभ्यो वानररूपेभ्यो देवेभ्योऽन्यो न मर्डिता सुखयिता न विद्यते। मे मम कामाः मनोरथाः देवेषु एषु अयंसत अपूर्यंत ॥ ६८ ॥

ते नो अर्वन्तो हवनश्रुतो हवं विश्वे शृणवंतु वाजिनो मितद्रवः।

सहस्रसा मेधसा ताविव त्मना महो ये धनं समिथेषु जभ्रिरे ॥६९॥

ऋ. १०. ६०, ६

शीघ्रगति वाले वानर मेरे आवाहन को सुनें। इनकी विश्व में सर्वत्र गति है, जैसे यज्ञ में ऋत्विज धन को ग्रहण करता है वैसे ही ये संग्राम में शत्रुओं के धन को ग्रहण करें।

इत्यादि चिन्तयित्वा वानरान्प्रति वदतितेन इति। ते अर्वन्तः शीघ्रगतयो वाजिनो वानराः नोऽस्माकं हवम् आह्वानं शृणवंतु शृण्वन्तु। कीदृशाः हवनश्रुतः हवनं शृण्वंति ते, तथा विश्वे सर्वे, मितद्रवाः परिमितगतयः। ये त्मना आत्मना सहस्रसाः सहस्रैः संमितस्य धनादेः संभक्तारः मेधसा ताविव यज्ञे इव समिथेषु संग्रामेषु महः महनीयम् धनं शत्रूणां वित्तं जभ्रिरे हृतवन्तः। यज्ञे ऋत्विज इव स्वभूतमितिभावः ॥ ६९ ॥

प्र वो वायुं रथयुजं पुरंधिं स्तोमैः कृणुध्वं सख्याय पूषणम्।

ते हि देवस्य सवितुः सवीमनि क्रतुं सचंत सचितः सचेतसः ॥७०॥

ऋ. १०. ६४, ७

हे देवताओं! आपके मध्य में शरीरधारी वायुदेवता को सखा के समान अपने कार्य को सम्पन्न करने के लिये उनकी स्तुति करता हूं। क्योंकि वे सविता देवता के लोक में सङ्कल्प को पूरा करते हैं। सहृदय के द्वारा प्रार्थना करने पर सज्जन पुरुष कार्य को करते हैं।

भो देवाः वः युष्माकं मध्ये वायुं वायुपुत्रं रथयुजं देहधरं पुरः धीयत इति

पुरःसरं स्तोमैः स्तुत्या कृणुध्वं सख्याय सखिवत् कार्याय पूषणं पोषणं मत्कार्यार्थमिमं स्तुवध्वमित्यर्थः। हि यतः ते स्तोमासः सवितुर्देवस्य सवीमनि प्रसवे लोके क्रतुं संकल्पं सचन्ते सम्पादयंति। सचितः चेतनस्य पुंसः सचेतसः सहृदयस्य स्तुतयः सहृदयं कार्यं प्रवर्तयन्तीत्यर्थः॥ ७०॥

त्रिःसप्त सस्रा नद्यो महीरपो वनस्पतीन्पर्वताँ अग्निमूतये।

कृशानुमस्तॄन् तिष्यं सधस्थ आ रुद्रं रुद्रेषु रुद्रियं हवामहे॥७१॥

ऋ. १०. ६४, ८

इक्कीस नदियों, समुद्र, वनस्पति, पर्वत और अग्नि तथा कालाग्नि रूप और नक्षत्र मण्डल के साथ स्थिति अर्थात् सम्पूर्ण लोक में वास करने वाले, गर्जना से ब्रह्माण्ड को आक्रान्त करने में समर्थ, रुद्रों के मध्य में जो हनुमत्रूप रुद्र, राक्षसों का संहार करने में समर्थ हैं, उनका मैं अपनी कार्य की सिद्धि के लिये आवाहन करता हूँ।

त्रिरावृत्ताः सप्त त्रिःसप्त एकविंशतिः। सस्राः सरंत्यः नद्यः नदीः महीरपः समुद्रं वनस्पतीन् पर्वतान् अग्निं च वाडवम्। तथाकृशानुं कल्पांताग्निं अस्तॄन् अस्यन्ति क्षिपन्ति तान् शेषकालाग्निरुद्रादीन् तिष्यं पुष्योपलक्षितं नक्षत्रमण्डलं च सधस्थे सह तिष्ठन्त्यस्मिन्निति सर्वलोकावासे कृत्स्नब्रह्माण्डे आसमन्तात्स्थितं वस्तुजातं प्रति रुतं शब्दं कुर्वन्नेव द्रांति गच्छति गर्जन्नेव ब्रह्माण्डपिण्डमाक्रान्तुं शक्तो रुद्रस्तं हनुमद्रूपं रुद्रेषु मध्ये रुद्रियं रुद्रकर्मार्हं शत्रुसंहारक्षमं हवामहे ऊतये स्वकार्यसमृद्धये स्वेष्टसिद्ध्यर्थमित्यर्थः॥ ७१॥

अपश्यमस्य महतो महित्वममर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु।

नानाहनूविभृते सम्भरेते असिन्वती बप्सती भूर्यत्तः॥७२॥

ऋ. १०. ७९, १

इस प्रकार आज्ञा दिये गये हनुमान के स्वरूप का वर्णन करते हैं। 'मैं इस हनुमान के माहात्म्य को देख रहा हूँ, । मृत्यु लोक में समुद्र पार करने वाले उसके रूप को देख रहा हूँ। उसका मुखफलक संसार का संहार करता हुआ, बांधता हुआ, नीलता हुआ और भक्षण करता हुआ दिखाई पड़ता है :'

एवमाज्ञप्तस्य हनुमतो रूपं वर्णयति अपश्यमिति। अपश्यमस्य महतो महित्वं माहात्म्यम् अपश्यं दृष्टवानस्मि। मर्त्यासु विक्षु मर्त्यलोके एवाऽस्य समुद्रं क्रामतो रूपं दृष्टवानस्मि। तथा अस्य हनू मुखफलके नाना पृथक् विभृते विहृते व्यात्तं मुखं

चाऽऽयश्यमित्यर्थः ॥ ते एव हनू सम्भरेते संहरेते विश्वस्य संहारं कुरुतः । असिन्वती अच नन्ती, अन्योन्यमस्पृशन्त्यौ । बप्सती ललमाने । भूरि बहुलम् अत्तः भक्षयतः । प्रश्वासवेगेनैव सर्वमस्योदरे प्रविशति न तु हन्वोर्मलनेनेति भावः ॥ ७२ ॥

गुहाशिरो निहितमृधगक्षी असिन्वन्नत्ति जिह्वया वनानि ।
अत्राण्यस्मै पड्भिः सम्भरन्त्युत्तानहस्ता नमसाऽधि विक्षु ॥७३॥

ऋ. १०. ७९, २

वानर रूप होने से इसका शिरोभाग छोटा है और नेत्र गम्भीर है। मुखफलक में वन, जल, फल आदि का जिह्वा के द्वारा भक्षण करता है। सीता देवी के द्वारा आज्ञापित यज्ञ इसकी सेवा करते हैं। प्रजाओं के ऊपर स्थित गन्धर्वादि नमस्कार के निमित्त से अञ्जलि बांधे रहते हैं।

अस्य शिरो गुहा गुहायां निहितं वानररूपत्वाच्छिरोऽत्यल्पमित्यर्थः । तथा-अक्षी अक्षिणी ऋधक् तले निहिते गभीरे इत्यर्थः । असिन्वन् मुखफलके अवध्नन् असंयोजयन्नेव वनानि जलानि, वनस्थानि फलादीनि वा जिह्वयैवातिदीर्घीकृतयाऽत्ति भक्षयति । अस्मै अत्राणि अमत्राणि वर्णलोपश्छान्दसः भोजनपात्राणि अन्नपूर्णानि पड्भिः दूतैः सम्भरन्ति । देवाः सीताज्ञया खलु यक्षा एनं सेवन्त इति भारते दृष्टम् । विक्षु प्रजासु अधि उपरि स्थिताः गन्धर्वादयः नमसा नमस्कारेण निमित्तेन उत्तानहस्ताः बद्धाञ्जलयो भरन्तीति सम्बन्धः ॥ ७३ ॥

प्रमातुः प्रतरं गुह्यमिच्छन्कुमारो न वीरुधः प्रसर्पदुर्वीः ।
ससं न पक्वमविदच्छुचन्तं रिरिह्वांसं रिप उपस्थे अन्तः ॥७४॥

ऋ. १०. ७९, ३

जैसे पुष्पान्वेषण में तत्पर कुमार के पास औषधियाँ जाती हैं वैसे ही हनुमान गुप्त सन्देश लेकर सीता के पास गये। पकी हुई फसल के समान शोक के कारण पीतवर्ण वाली, रावण को ग्रसने वाली सीता को उन्होंने पृथ्वी के गुप्त स्थान में खोजा।

प्रमातुरिति — यथा पुष्पाऽन्वेषणपरः कुमारो वीरुध ओषधीः प्रसर्पति, एवं हनुमान्मातुः सीतायाः सकाशात् प्रकृष्टतरं गुह्यं गुह्यसन्देशं इच्छन् उर्वीः भूप्रदेशान् प्रसर्पत् प्रासर्पत् । ससं सस्यक्षेत्रं पक्वमिव नेत्युभयत्रोपमार्थं तद्वत्पाण्डुरमित्यर्थः । यतः शुचन्तं शोचन्तं सीताया आत्मानम् अविदत् शोकेन लिङ्गेन पक्वक्षेत्रच्छायया च ज्ञातवान् । रिरिह्वांसं लेलिहानं रावणं ग्रसितुमित्यर्थात्

रिपा: पृथिव्या अन्तर्मध्ये उपस्थे गुप्ते स्थाने स्थितमिति शेषः । अमातुः प्रतरं गुह्यमिच्छन्नित्युत्तरमन्त्रे प्रकर्षेण तीर्त्वा मातुर्गुह्यमिच्छन्निति लिंगाद्गूढ गुहा चिर इत्यादि लिंगाच्च सीतान्वेषणार्थं समुद्रं तरितुकामस्य हनुमत एवैतद्रूपं वर्ण्यत इति सहृदयैरेव ज्ञेयम् ॥ ७४ ॥

इषुर्न धन्वन्प्रतिधीयते मतिर्वत्सो न मातुरुप सर्ज्यूधनि ।
उरुधारेव दुहे अग्र आयत्यस्य व्रतेष्वपि सोम इष्यते ॥७५॥

ऋ. ९. ६९, १

जिस प्रकार धनुष से बाण छोड़ा जाता है, उसी प्रकार मेधावी हनुमान सीता रूपी लक्ष्य की ओर चले। जैसे बछड़ा दुग्धपान के लिये गाय के निकट जाता है, उसी प्रकार हनुमान माता के आगे गये। इस हनुमान के मन में ब्रह्मचर्य का पालन करने से, कर्म से शुद्ध चित्त में कोई विकार नहीं उत्पन्न हुआ।

एवं रूपस्य हनुमतः सीतादर्शनं सीताहनुमतोः सम्वादादिकं च वर्ण्यते— इषुर्न धन्वन्नित्यादिना भूयसा प्रबन्धेन । तत्रेदं दशर्चं सूक्तं सोमरूपी विष्णुर्देवता । इषुर्बाणो नशब्द उपमार्थे स यथा धन्वन् धनुषि प्रतिधीयते संधीयते । एवं मतिर्मेधावी मतिशब्दस्य मेधाविनामसु पाठात् मेधावी हनुमानपि प्रतिधीयते प्रेर्यते गगनमार्गेण सीतारूपं लक्ष्यं प्रापयितुमिति भावः । स प्रतिहतो ऊधनि गोःक्षीराशये वत्सो न वत्स इव मातुः सीतायाः समीपे स्तनं पातुं शिशुरिव उपसर्जित उपसृष्टोभूत्, न तु बाणवल्लक्ष्यभूतां विभेदेत्यर्थः । सा च माता अग्रे आयती वत्सस्याभिमुखमुपसर्पन्ती गौरिव उरुधारा स्थूलया प्रेमधारया दुहे दुग्धे तम् इष्टवाक्येनाप्यायितवती । ननु सतीमतिसुन्दरी च सीतामुपसर्पतोस्य चित्त- विकारः कथं नासीदित्यत आह—अस्य व्रतेष्विति । अस्य रुद्रस्य व्रतेषु ब्रह्मचर्या- दिषु प्राप्तव्येषु साम: सामयागादिकं कर्मवृन्दमिष्यते, कर्मभिः शुद्धचित्तस्य परवैराग्यवतः कामविकारशङ्कैव नास्तीत्यर्थः ॥ ७५ ॥

उपो मतिः पृच्यते सिच्यते मधु मंद्राजनी चोदते अंतरासनि ।
पवमानः संतनिः प्रघ्नतामिव मधुमान्द्रप्सः परिवारमर्षति ॥७६॥

ऋ. ९. ६९, २

मेधावी हनुमान समीप जाकर सीता माता के कानों को प्रिय लगने वाले वचन बोले। तब हनुमान के द्वारा आश्चर्यचकित की गयी सीता को वाग्देवता ने मुख में स्थित होकर उन्हें प्रियवचन बोलने के लिये

प्रेरित किया। पवित्र करने वाले, रावण के लिये प्रकृष्ट रूप से कालाग्नि रूप भगवान् क्या आयेंगे ? यह सीता ने पूछा।

उपो—उपेव समीपे एव मतिर्मेधावी हनुमान् पृच्यते संयुज्यते, तत्र च मातुः कर्णे मधु मधुरम् अमृततुल्यं वाक्यम्—"जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः। राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः॥ दासोहं कोशलेन्द्रस्य राघवस्य महात्मनः" इत्यादिकं सिच्यते श्राव्यते॥ ततश्च तां हनुमति जात घस्रम्भां मातरं मातरं मन्द्राजनी वाग्देवता अन्तरासनि मध्ये मुखे स्थित्वा चोदते वक्तुं प्ररयति, मन्द्राजनीशब्दो वाग्नामसु पठितः भाष्ये तु मदकरस्य प्रेरयित्री सोमस्य धारेति व्याख्यातम्॥ वाग्देवतया प्रेरिता सा यदुक्ति तदाह—पवमान इति। पुनाति शोधयतीति पवमानः पापनोदन्वेषकः विष्णुः एकोपि प्रघ्नतां प्रकर्षेण निघ्नतां कालाग्निरुद्राणां सन्तर्निनिबिडतरः समुदाय इव। द्रप्सः द्रप्सवदुद्रिक्तस्य रावणस्य षष्ठ्याः सु इत्यादेशः। परिधारम् अर्पति समुदायं गच्छति प्रश्नार्थे लेट्। रावणं सपरिवार भस्मीकर्तुं किमेष्यतीति पप्रच्छेत्यर्थः कीदृशः पवमानः मधुमान् मयि प्रीतिमान्॥ ७६॥

संम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम्।
ताँ आविवास नमसा सुवृक्तिभिर्महोआदित्याँ अदितिं स्वस्तये॥७७॥

ऋ. १०. ६३, ५

हनुमान ने कहा : 'जो सम्राट, वृद्धिशाली, विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करने वाले, अकुटिल, परशुराम के स्वर्गलोक का नाश करने वाले हैं मैं उन रामभद्र के पास रहता हूं और अपनी वाणी से महान सङ्कट को दूर करने वाली, पृथ्वी के कल्याण के लिये पति के साथ जाने वाली आपको नमस्कार करता हूं!'

सिच्यते मध्वित्येतत्प्रदेशान्तरस्थेन मन्त्रेण विवृणोति-संम्राज इति—ये सम्राजश्चक्रवर्तिनः सुवृधः सुतरां वृद्धिमन्तः यज्ञं विश्वामित्रस्य आययुः आगतवन्तः। अपरिह्वृता अकुटिलाः, दिवि परशुरामीये स्वर्गलोके क्षयं नाशं दधिरे धृतवन्तः। एवं विश्वामित्रयज्ञगमनं परशुरामलोकभङ्गं चाभिज्ञानमुक्त्वा स्वस्य सम्राट् सम्बन्धित्वमाह—तानिति। तान् श्रीरामभद्राख्यान् आदित्यान् आदित्यवंशजान्। आवि इत्युपसर्गद्वयसम्बन्धात् वास इत्यस्यावृत्तिः, उवासेत्युत्तमैकवचने लिटि अभ्यासलोप आर्षः। तान् आउवास तेषां समीपे वासं कृतवानस्मि। नमसा नमस्कारेण दासोऽनेनेत्यर्थः॥ सुवृक्तिभिः सुतरां वृक्तयो वृजिनानि महान्ति

सङ्कटानि तैर्हेतुभिः अदितिम् । "इयं वा अदितिः" इति श्रुतेः पृथ्वीं तज्जां त्वाम् उद्दिश्य स्वस्तये कल्याणाय त्वां भर्त्रा सह संगमयितुमित्यर्थः । विवास प्रवासमपि कृतवानस्मि रामदासोऽहं त्वामुपागतोस्मीत्यर्थः । पक्षे विष्णुभक्तोऽहं यज्ञादीनामनित्यफलतां ज्ञात्वा शुद्धबोधोल्लासिनीं श्रद्धां त्वां प्राप्तोस्मीत्यर्थः ॥ अक्षरार्थोऽपि तथैव योज्यः ॥ ७७ ॥

अव्ये वधूयुः पवते परि त्वचि श्रथ्नीते नप्तीरदितेर्ऋतंयते ।
हरिरक्रान्यजतः संयतो मदो नृम्णा शिशानो महिषो न शोभते ॥७८॥

ऋ. ९. ६९, ३

दुष्ट कामुक रावण शुद्ध हो रहा है, मुक्त सीता को पाकर ब्रह्मचर्य को प्राप्त हो रहा है। क्योंकि उसके परिजनों द्वारा स्वर्ग से बलपूर्वक लायी गयी स्त्रियाँ, सीता को न प्राप्त कर पाने से तप्त रावण को रुचिकर नहीं लगती हैं। सोमचित्त के अधिष्ठाता हरि ने उसे आक्रान्त कर दिया है कि स्त्रीसङ्ग के लिये इच्छुक रावण को अपने को संयमित रखना चाहिये अन्यथा मरण भय को भी त्याग कर परपत्नी का सङ्ग करना चाहिये। इसलिये काम से दीप्त होता हुआ भी रावण अधिक सुशोभित नहीं होता अपितु कृश हो रहा है।

एवं पवमानः सन्तनिरित्यादिना स्वस्मिन्रामानुग्रहं पृष्ट्वा स्वस्य विशुद्धतां मन्त्रद्वयेनाह—सीता—अव्ये इति । अव्ये अवीर्नारी रजस्वला तस्यां योग्यं कर्म अव्यं मैथुनं तस्मिन् अव्ये निमित्ते वधूयुः वध्वा पुनर्भार्यया सह यौति मिश्री भवतीति वधूयु दुष्टकामुकोपिरावणः त्वचि परिपवते शुद्धयति मदनाप्त्या पाण्डुरो भवतीत्यर्थः यतः अदितेः अदितिं सीतां वा प्राप्य ऋतं सत्यं ब्रह्मचर्यम् एति प्राप्नोतीति ऋत यत् तस्मै ऋतयन्ते रावणाय तत्परिजनः नप्तीः नयतन्ति स्वर्गाक्षिति नप्तय उर्वश्याद्याः स्त्रियस्ताः श्रथ्नीते शिथिलाः करोति बलादाहरति सीताया अलाभात्तप्यमानं रावणं चिकित्सितुमानीता अपि रम्भादयस्तस्मै न रोचन्त इत्यवज्ञातास्ता भवन्तीत्यर्थः । नन्वीदृशोऽपि बलात्सीतां कुतो न कामयत इत्यत आह—हरिरिति । हरिः सोमश्चित्ताधिष्ठाता अक्रान् एनम् आक्रान्तवान् । यजतः सङ्गतिकर्तॄन् रावणादीन, अत एव तेषां मदस्संयतो निगृहीतः । अन्यथा पाण्डुवन्मरणभयमपि त्यक्त्वा ते परदारानाक्रमेयुः, अत एव नृम्णा कामबलेन शिशानो दीप्यमानो महीषो महान् रावणो न शोभते, न पुष्यत्यपि तु कृश एव भवति ॥ ७८ ॥

उक्षा मिमाति प्रतियंति धेनवो देवस्य देवीरुपयंति निष्कृतम् ।

अत्यक्रमीदर्जुनं वारमध्ययमत्कं न निक्तं परि सोमो अव्यत ॥७९॥

ऋ. ९. ६९, ४

कामाकुल रावण अन्यत्र रमण करता है। रावण अपने दोष से भोग्य देवों के द्वारा प्रदत्त सुख को भी अधर्माधिक्य से नष्ट कर रहा है। कृष्णावतार में अर्जुन वृक्ष बने हुए नलकूबर द्वारा भूतकाल में रम्भा को बलपूर्वक पकड़ने पर रम्भा ने उन्हें शाप दे दिया कि किसी स्त्री के साथ बलपूर्वक रति करने पर पाण्डु के समान मरण को प्राप्त होंगे। अतः वह सीता के विषय में दृढ़ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

पूर्वोक्तमेव विवृणोति—उक्षेति। उक्षेवोक्षा।रेतः सेचनकामः मिमाति आत्मानं हिनस्ति, अन्यत्रारमणात्। यतो धेनवः इव धेनवः आगताः दिव्यस्त्रियः प्रतियन्ति परावृत्य गच्छन्ति. तावतैव देवस्य धर्मस्य देवीर्देवाङ्गनाः निष्कृतिम् आनृण्यम् उपयन्ति, रावणकृतो धर्मस्तस्मै दिव्याङ्गनाः समर्प्य कृतार्थोऽभूत् न हि तस्य भोगपर्यन्तं व्यापारोऽस्ति, रावणस्तु स्वदोषान्न भोगभागभूत् देवदत्तमपि सुखम् अधर्माधिक्यान्नश्यतीति भावः। अतीति—अर्जुनं कृष्णावतारे अर्जुनवृक्षतां प्राप्तं नलकूबरं भाविवृत्त्या भूतवृत्त्या वाऽर्जुनशब्दवाच्यम् अव्ययं याति मनसा गच्छतीत्यव्ययम् रम्भा सम्भोगार्थिनं वारं बालं स्वपुत्रम् अत्यक्रमीत्। वधूयुः रम्भाया आक्रमणेनातिक्रान्तवान्, अतस्तेन शप्तो मरणभयान्न सीतां बलाद्भोक्तुमिच्छति। ननु पाण्डुवन्मरणभयमन्यत्रिकामुकत्वात्कुतो न त्वमतीष्यत आह—अत्कमिति। सततं गच्छतीत्यत्को नित्यप्रवासी परिव्राट्, न शब्द इवार्थे परिव्राजमिव निक्तं निर्णिक्तं सीताविषये दृढब्रह्मचर्यं तं सोमश्चित्ताधिष्ठाता सकलराक्षससंहारमिच्छन् परि परितः चित्तप्रभावात् कामात् अव्यत अरक्षत्। अतोऽयं मां न स्पृष्टवान् यदि स्पृशेत्, तर्हि नलकूबरशापेन सद्यो नश्येदित्यात्मशुद्धिरुक्ता ॥ ७९ ॥

अप्रक्तेन रुशता वाससा हरिरमर्त्यो निर्णिजानः परिव्यत।
दिवस्पृष्ठं बर्हणा निर्णिजे कृतोपस्तरणं चम्वोर्नभस्मयम् ॥८०॥

ऋ. १०. ६९, ५

पहले न देखी गयी मुझ सीता को तुमने कैसे जाना? यह पूछने पर हनुमान कहते हैं: 'अलौकिक वानर रूपी मेरे द्वारा आप मलिन होने पर भी सोने के कण के समान देदीप्यमान, वस्त्र से वियोगिनी दिखने से जान ली गयी हैं। सुख के उच्च स्थान राम की पत्नी आपको मैंने पहचान लिया। आकाश में भी शक्तिशाली, ब्रह्माण्ड का शोधन करने

वाले वानर, राक्षस सेना को भस्म कर देंगे।

अथाहृष्टपूर्वा मां त्वं कथं ज्ञातवानिति प्रष्टुमिच्छन्तीं सीतामालक्ष्य हनुमानाह—अमृक्तेनेति । अमर्त्यः अप्राकृतो हरिर्वानरो मद्रूपी अमृक्तेन असम्मार्जितेन मलिनेन रुशता कनकतन्तुमयत्वात्सूक्ष्मत्वाच्च दीप्यमानेन वाससा वस्त्रेण वियोगिनीचिह्नेन परिव्यतपर्यवेष्टयत् ज्ञातवानित्यर्थः । कीदृशो निर्णिजानः शोधयन् सीतामन्वेष यन्नित्यर्थः । दिवः सुखस्य पृष्ठमिव पृष्ठम् उच्चस्थानं यदपेक्षयाऽन्यन्महदानन्दस्थानं भर्तुर्नास्ति—"सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनम्" इति श्रुतेः ॥ तादृशं रामस्य कलत्रं त्वां नमस्यं नभस्मायं नमोऽव्याकृतम् आकाशः शक्तिर्मायेति पर्यायाः तन्मयं परिव्यतेति सम्बन्धः ॥ यत् निर्णिजे कण्टकनिरसनेन ब्रह्माण्डशोधनाय चम्वोः वानरराक्षससेनयोर्बर्हणा निबर्हणाय भस्मीभावाय उपस्तरणमिव कृतवान् परमेश्वरः । अडभावश्छान्दसः । यथा—हृव्यवदानप्रक्षेपार्थिना स्रुचि उपस्तरणं क्रियते, तद्वच्चमूद्वयहोमार्थिना धात्रा त्वं निर्मितासीत्यर्थः ॥ ८० ॥

सूर्यस्येव रश्मयो द्रावयित्नवो मत्सरासः प्रसुपः साकमीरते ।
तन्तुं ततं परि सर्गास आशवो नेन्द्रादृते पवते धाम किंचन ॥८१॥

ऋ. १०. ६९, ६

जिस प्रकार सूर्य की किरणें एक साथ चलती हैं उसी प्रकार मेरे समान जातीय वानर भी शीघ्र और एक साथ सभी जगह जाते हैं। उन सभी के मध्य केवल मैंने ही आपको देखा यह राम का अनुग्रह है क्योंकि उनकी कृपा के बिना कोई भी सीता को नहीं देख सकता।

सूर्यस्येवेति— यथा सूर्यस्य रश्मयः साकं युगपत् द्रावयित्नवो गमनशीला आशवः शीघ्राश्च, एवं मत्सरासः अहमिव सरन्ति ते मत्सरासः मज्जातीयाः हरयो युगपत्सर्वत्र ईरते गच्छन्ति प्रसुपः—प्रस्वपन्ति ते प्रसुपः स्थावरालोकास्तान्प्रति ईरते । कीदृशाः ततं महान्तं तन्तुम्—"प्रजा वै तन्तुः" इति श्रुतेः ॥ प्रजां तद्धेतून् दारानित्यर्थः । परि परिमार्गितुं सर्गासः सृजन्त इति सर्गा निसृष्टा स्वामिनेति शेषः । तेषां मध्ये मयैव त्वं दृष्टासीति वक्तुमशक्नुवन्नाह—नेन्द्रादिति । इन्द्राहते इन्द्रानुग्रहं विना किंचन किमपि सत्त्वं धाम इन्द्रस्यैव गृह सीतारूपं न पवते न शोधनायावगच्छति । रामानुग्रहात्त्वामहं दृष्टवानस्मीत्यर्थः ॥ ८१ ॥

सिन्धोरिव प्रणवे निम्न आशवो वृषच्युता मदासो गातुमाशत ।

शंनोनिवेशे द्विपदे चतुष्पदेऽस्मे वाजाः सोम तिष्ठंतु कृष्टयः ॥८२॥

ऋ. १०. ६९, ७

एक माह में सीता को खोज लेंगे। इस प्रतिज्ञा से च्युत होकर नदी के प्रवाह के समान शीघ्रगामी वानर सीता को खोजते हुए पाताल में प्रविष्ट होकर नरक में गये हुये के समान हो गये। तब उन्होंने सोम राजा की स्तुति की कि 'हमलोगों का कल्याण करें। हम लोग संग्राम में शत्रु को पराजित करें।' इस प्रकार स्तुति करने पर वे सब बिल से निकल कर पृथ्वी पर आये।

नेन्द्राहत इत्युक्तं तदेव स्पष्टयति--सिन्धोरिवेति। सिन्धोः नद्याः प्रवणे निर्झर-प्रपाते इव यथा प्रविष्टाः वृषच्युताः स्वातन्त्र्यलक्षणाद्धर्मात् च्युताः प्रवाहवशा भवन्ति, एवमाणव शीघ्रगामिनोपि वानराः निम्ने नीचे पातालमध्ये प्रविष्टाः सन्तः वृषाः मासेन सीताशुद्धिमानेष्याम इति स्वप्रतिज्ञात्मकः देवाधर्मः ततः च्युताः प्रतिज्ञाया अकरणात् नरकंगता इव जाता इत्यर्थः। ते पुनर्मंदासः सामं राजानं स्तुतिभिर्मादयन्तः तत्प्रसादाद्गातुं पृथिवीम् आणस प्राप्तवन्तः गातुं पदं पृथिवीनामसु पठितम् भाष्ये त्वन्यथा व्याख्यातम्। स्तुतिफलं प्रार्थ्यमानं तावद्दर्शयति--शमिति। हे सोम नः अस्माकं सम्बन्धिनो रामस्य निवेशे गृहे दारेषु शं कल्याणं तिष्ठतु सर्वदास्त्वित्यर्थः। तथा नः द्विपदे मानुषे रामादिरूपे चतुष्पदे ऋक्षवानररूपे च शं तिष्ठतु, तथा अस्मे अस्माकं वाजाः संग्रामाः कृष्टयः शत्रुकर्षण क्षमास्तिष्ठन्तु उपस्थिता भवन्तु। एवं प्रार्थनापूर्वकम् आनः पवस्वेति तृचेन सोमाभिधं विष्णुं स्तुत्वा तत्प्रसादाद्बिलान्निर्गत्य भूमिं प्राप्ता इत्यर्थः ॥ ८२ ॥

शुचिः पुनानस्तन्वमरेपसमव्ये हरिर्न्यधाविष्ट सानवि।
जुष्टो मित्राय वरुणाय वायवे त्रिधातु मधु क्रियते सुकर्मभिः ॥८३॥

ऋ. ९. ७०, ८

स्वभाव से शुद्ध होने पर भी, निष्पाप होने पर भी शरीर को उपवास के द्वारा पवित्र करते हुए (अनशन करते हुए) वानर मेरु शिखर पर अभयस्थान ब्रह्मलोक को जाने के लिये तैयार होने लगे। तब सुकृतवान सम्पाति नामक पक्षी ने वातपित्त कफात्मक वानर शरीर को अपना भोजन बनाने का निश्चय किया। क्योंकि सुपक्व आहार से देहाग्नि सन्तुष्ट होगी, सुरस भोजन से रसना देवता वरुण सन्तुष्ट होंगे;

सुस्पर्श चर्म से त्वक् देवता वायु सन्तुष्ट होंगे।

ततो बिलान्निर्गत्यापि सीतायाः प्रवृत्तिमलभमानानां पुनस्तमेव भिरस्मा इत्यादिभिरुक्तरस्य सूक्तस्य दशर्चस्य रेणुदृष्टस्य सप्तभिर्ऋग्भिः स्तुतवतामप्यस्माकं भयमागतमित्याहाष्टम्या शुचिः पुनान इति। एकवचनं व्यत्ययेनाभिप्रायम्, शुचिः स्वभावशुद्धोपि अशेषसं निष्पापमपि तन्वं तनुं शरीरं पुनानः उपवासैः शोधयन् हरिर्वानरः सानवि सानौ मेरुशिखरे अव्ये संगमे निमित्ते नितराम् अक्षाविष्ट धावनं कृतवान् प्रतिज्ञाभंगाद्भीतो वानरगणोऽनशनव्रतेन अभयस्थानं ब्रह्मलोकं गन्तुं त्वरावानभूदित्यर्थः। ततः सुकर्मभिः सुकृतवता सम्पातिना पक्षिणा बहुत्वं पूजायाम् त्रिधातु क्लीबत्वं छांदसम्, वातपित्तकफात्मकं वानरशरीरं मधु आत्मनो अन्नं क्रियते, वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवन्निर्देशः। अतिक्षीणानामेषां मध्ये योयो मरिष्यति, तमहं भक्षयिष्यामीति मनस्यकरोदित्यर्थः॥ कीदृशस्त्रिधातुः जुष्टः मित्रादीनां प्रीत्यर्थं सम्यगेतं सेवितस्तर्पितः। तथा हि—सुपक्वमाहारं भुंजानस्याऽपि देहवतोऽग्निस्तुष्यति, सुरसं भुंजानस्य रसनादेवता वरुणस्तुष्यति, सुस्पर्शं वसनं वसानस्य त्वग्देवता वायुस्तुष्यति॥ ईदृशानां देहानां भक्षणेनाहं शुद्धः पुष्टश्च भविष्यामीति सम्पाते राशयः॥ ८३॥

पवस्व सोम देववीतये वृषेन्द्रस्य हार्दि सोमधान माविश।
पुरा नो बाधाद्दुरितातिपारय क्षेत्रविद्धि दिश आहाविपृच्छते॥८४॥

ऋ. ९. ७०, ९

उसको मारने के लिये आता हुआ देखकर वे पुनः जीवन के लिये सोम की स्तुति करने लगे: 'हे ईश्वर! तुम अभिमत फलदाता हो, देवों के रक्षक हो, तुम राम के हृदय में (सीता रूप में) रहते हो! इस पक्षी के द्वारा कष्टसाध्य मरण से हमें पार करो। पहले राम के द्वारा सीता का पता पूछने पर जटायु ने राम को सीता का पता बताकर कुछ कार्य किया, हमलोग तो व्यर्थ ही मर रहे हैं।

तं च जिघत्सुमायान्तम् अभिप्रेक्ष्य पुनः सोमं स्तुवंति शेषेण ऋग्द्वयेन जीवनार्थम्—पवस्वेति। हे सोम त्वं वृषा अभिमतफलवर्षुकः देववीतये देवानां पाता प्रयतस्व यतस्त्वम् इन्द्रस्य रामस्य हार्दि हृदयंगमं सोमधानं सोमो धीयतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या सोमयागाधिकारे मुख्यं निमित्तं स्त्रीरूपम् आविश प्रविश सोमेनाहं यक्ष्ये इति यथा सीता संकल्पयति, यथा च सोमेन देवाः तृप्यन्ति, तथा रावणवधेन सीताप्रोत्साहनेन च सम्पादयेत्यर्थः। पुरा प्राक् नोऽस्माकं बाधात् अनेन

पक्षिणा वधात् दुरिता दुरितानि दुर्मरणानि अतिपारय सङ्कटान्यतिक्रम्योत्तारय इत्युक्त्वा जटायुं स्तुवन्ति । हि प्रसिद्धः तीक्ष्णदृष्टिर्जटायुनामा गृध्रःक्षेत्रवित् सीतास्थानवित् विपृच्छते सीतायाः गतिं विशेषेण पृच्छते रामाय दिशःदिशं संज्ञया आह उक्तवान । सः रामार्थं मृतोऽपि किंचिद्रामकार्यं कृतवान् । वयं तु व्यर्थमेव म्रियामहे इत्यर्थः ॥ ८४ ॥

हितो न सप्तिरभिवाजमर्षेन्द्रस्येन्दो जठरमापवस्व ।
नावा न सिन्धुमतिपर्षि विद्वाञ्छूरो न युध्यन्नव नो निदः स्पः ॥८५॥

ऋ. ९. ७०, १०

'हे हितकारी राम ! जैसे अश्व संग्राम में जाता है वैसे ही आप शत्रु को मार कर इन्द्र की हवि के भोक्ता अपने सोमरूप से हवि के द्वारा उदर में प्रवेश कीजिये । नौका के समान हमें संकट से पार कीजिये । हमारे मन को जाननें वाले आप व्यर्थ में बेचारे मारे गये हमलोगों के प्रति ऐसा कहने वाले राक्षसों को मारिये !'

हितो नेति ॥ हे इंदो सोमाभिष श्रीविष्णो रामभद्र हितो हितकरो नेत्युपमार्थे यथा–सप्तिरश्वः वाजं संग्रामं गच्छति, तथा–त्वं वाजम् अर्ष अभ्यर्ष अभिमुखं गच्छ । ततो दारहरान् शत्रून्हत्वा दारैः संगतःसन् इन्द्रस्य हविर्भोक्तुः स्वेनैव सोमरूपेण हविषा जठरम् उदरम् आपवस्व प्रविश । सोमयागान्कुर्वित्यर्थः । नावा नौकायानेन यथा सिन्धु नदीं नाविका अतिर्पान्ति अतिपारयन्ति, एवं त्वम् अस्मान् सङ्कटानि अतिपर्षि अतिपारय । कीदृशो विद्वान् अस्माकं चित्तं जानन् शूरो न युध्यन् शूर इव शत्रून् प्रहरन् नोऽस्मान् निदो निंदकान् व्यर्थमेते बराकाः मृता इत्येवंवादिनो राक्षसान् अवस्पःआवंमुखं जहि स्पृहि हिंसायाम् । 'बहुलं छन्दसि' इति श्नाप्रत्ययस्य लुक् तिपि गुणे हल्ङ्यादिना तिपो लोपः ॥ ८५ ॥

आदक्षिणा सृज्यते शुष्म्या ३ सदं वेति द्रुहो रक्षसः पाति जागृविः ।
हरिरोपशं कृणुते नभस्पय उपस्तिरे चम्वो ३ र्ब्रह्मनिर्णिजे ॥८६॥

ऋ. ९. ७१, १

स्वामिभक्त वानरों को जानकर सम्पाति ने कहा कि सीतान्वेषण के लिऐ प्रार्थी तुम लोगों को दक्षिण दिशा में लंका में उनकी खोज करना चाहिए । इस प्रकार आज्ञापित बलवान वानर ने सीता को प्राप्त कर लिया । जागरूक यह वानर रावण से रक्षा करेगा, अतः

सीता उसे देखकर उसी प्रकार प्रेमयुक्त हुई जैसे बछड़े को देखकर गाय दुग्धयुक्त हो जाती है।

तदेवं स्वामिभक्तान् वानरान् ज्ञात्वा सम्प्रातिरप्यनुजग्राहेत्याह—ऋषभो वैश्वामित्रो नवर्चेन सूक्तेन आदक्षिणेत्यादिना। शुष्मी बलवान् हरिर्वानरः आ दक्षिणा दक्षिणदिगभिमुखम् आसृज्यते आज्ञाप्यते सीतान्वेषणार्थी त्वं दक्षिणस्यां दिशि लंकायां तस्या अन्वेषणं कुर्वित्याज्ञाप्यते, अर्थात् सूक्तांते दृष्टेन दिव्येन सुपर्णेनेति गम्यते। एवमाज्ञप्तमात्रो हरिः आसदम् आसीदंत्यस्मिन्निति रामस्य गृहं सीतारूपं वेति प्राप्नोति। तत्प्राप्य जागृविः जागरूकः सन् द्रुहो द्रोग्धुः रक्षसो रावणात् पाति आत्मानमिति शेषः, स एव हरिः ओषशं सर्वस्य धारकं नभः अव्याकृतं मायामयं सीताख्यं पयः पयस्वत् प्रस्रवयुक्तं कृणुते करोति, वत्सं गौरिव सीता तमवेक्ष्य स्निग्धा अभवदीत्यर्थः। कस्मै प्रयोजनाय—चम्वोः वानरराक्षससेनयोः उपस्तिरे उक्तलक्षणाय तत्पूर्वकाय चम्वोः संग्रामाग्नौ होमायेत्यर्थः। होमस्यापि प्रयोजनं ब्रह्मनिर्णिजे ब्रह्मणः ब्रह्मांडस्य कंटकोद्धरणेन शोधनाय, तेन कंटका एव मृताः, वानरास्तु मृता अपि पुनरुत्थापिता इति ध्वनितम् ॥ ८६ ॥

प्रकृष्टिहेव शूष एति रोरुवदसूर्यं १ वर्णं निरिणीते अस्यतम्।
जहाति वव्रिं पितुरेति निष्कृतमुपप्रुतं कृणुते निर्णिजं तना ॥८७॥

ऋ. ९. ७१, २

सीता को खोजने वाले वानरों ने राक्षसों को पीटकर गर्जनादि मात्र से रावणादि को दीन बना दिया और उसने अल्परूप को त्याग कर विशालरूप धारण कर लिया। वह पिता वायु के द्वारा वेगवान हो गया और सीता के पास जाकर पुनः लघु रूप हो गया।

आसृष्टो हरिः कथं तां दिशं गतवानित्यत आह—प्रकृष्टिहेवेति। स आसृष्टो हरिः शूषः सीतायाः शोधकः कृष्टिहेव कृष्टयः कर्षकाः लोकानां पीडका राक्षसास्तान्हन्तीति तथा तेषां काल इव क्रूरः प्रैति प्रकर्षेण गच्छति। रोरुवत् गर्जन् अस्य कर्षणकर्तुः रक्षोगणस्य वर्णं मुखच्छायाम् असूर्यम् अतिक्रूरं तं प्रसिद्धं निरिणीते निर्गमयति प्रगतमात्रो रावणादीन् दीनान् करोति किं च वव्रिम् आवरणम् अल्पकायस्वरूपं जहाति त्यजति महद्रूपं धारयतीत्यर्थः। तथा—पितुः वायोः निष्कृतं निश्चितं कृतं वेगवत्त्वम् एति प्राप्नोति ततश्च उपप्रुतं सीतायाः समीपं गन्तुं प्रुतं प्लवनं कृणुते करोति निर्णिजं विशुद्धं यथा स्यात्तथा उपप्रुतं कृणुते तना विस्तारेण महता रूपेण ॥ ८७ ॥

अद्रिभिः सुतःपवते गभस्त्योर्वृषायते नभसा वेपते मती ।
स मोदते नसते साधते गिरा नेनिक्ते अप्सु यजते परीमणि ॥८८॥

ऋ. ९. ७१, ३

वह वानर मध्यभाग में मैनाक पर्वत के द्वारा विश्राम के लिए कहे जाने पर, हाथ का स्पर्श मात्र करके, अपने बल से प्रकाशित होता हुआ, आकाश मार्ग से चला गया। मेधावी, वाणी मात्र से कार्य सिद्ध करने वाला, वह अपने बल से देवताओं में पूजित हुआ।

अद्रिभिरिति—स हरिः मध्येमार्गम् अद्रिभिः मैनाकपर्वतेन समुद्रमध्यादुद्गतेन सुतः प्रसुतो मयि विश्रमस्वेति आज्ञप्तः सन् तं गभस्त्योः बाहुभ्यां पवते गच्छति । हस्तस्पर्शमात्रेण तं सम्भावयति, न तु तस्य पृष्ठे तिष्ठतीत्यर्थः । यतः वृषायते वृषवद्बलं स्वीयं प्रकाशयति, अत एव नभसा आकाशेन वेपते सर्वत्र गच्छति । मती मेधावी पूर्वसवर्णः समती मत्या वा मोदते अनेनाहं मानित इति हृष्टो भवति । अतएव गिरा नसते वाङ्मात्रेण तत्र संश्लिष्टो भवति । साधते स्वकार्यं च साधयति, यतोयम्, अप्सु तीर्थरूपासु नेनिक्ते आत्मानं शोधयति, तथा परीमणि परितो मीयते इति परिमा देहो यज्ञभूर्वा तत्र यजते आत्मानमंतर्यामिणं वा देवान्वा पूजयते । स्वमुक्तबलेनैव सर्वं साधयति, न त्वन्यबलेनेति भावः ॥८८॥

परिद्युक्षं सहसः पर्वतावृधं मध्वः सिंचंति हर्म्यस्य सक्षणिम् ।
आयस्मिन गावःसुहुताद ऊधनि मूर्द्धञ्छ्रीणंत्यग्रियं वरीमभिः ॥८९॥

ऋ. ९. ७१, ४

सहसा वेग से चारो ओर अंतरिक्ष को लघु बनाने वाले, पूर्वोक्तरीति से मैनाक द्वारा सम्मानित, उस पर देवों ने पुष्प वर्षा की। उसने शत्रु के नगर के सम्यक परिपालित उच्चभवनों को अग्नि से जला दिया अर्थात् ईश्वर के उच्च स्थान को प्राप्त करा दिया।

परीति-सहसा वेगात् परिद्युक्षं परितः कार्त्स्न्येन दिवम् अंतरिक्षं क्षिणोत्यल्पीकरोति तम् । कृत्स्नमप्यंतरिक्षं हरेर्वेगस्य न पर्याप्तमित्यर्थः । अत एव पर्वतावृधं पर्वतं वर्द्धयन्तं मैनाकं पूर्वोक्तरीत्या मानयन्तं तं मध्वो मदकराः देवाः परिसिंचन्ति पुष्पवृष्ट्यादिना । कीदृशं तं हर्म्यस्य शत्रुपुरस्य सक्षणिम् अभिभावकं यस्मिन् हर्म्ये गावःसुहुतादः सुष्ठु हुतं दत्तमदन्ति ताः सम्यक्पालिताः, ऊधनि ऊधःप्रभवे क्षीरे अग्रियं श्रेष्ठं सोमं मूर्धनि उच्चस्थाने प्राप्तव्ये निमित्ते सति वरीमभिः उत्तरैर्यज्ञादिभिर्हेतुभिः श्रीणन्ति मिश्रयन्ति यतोत्र सोमयागादयः

प्रवर्तन्ते इत्यर्थः । तथा चोक्तम्—"अग्निहोत्रं च वेदाश्च राक्षसानां गृहे गृहे" इति ॥ ८९ ॥

समी रथं न भुरिजोरहेषत दश स्वसारो अदितेरुपस्थ आ ।
जिगादुप ज्रयति गोरपीच्यं पदं यदस्य मतुथा अजीजनन् ॥९०॥

ऋ. ९. ७१. ५

उस हनुमान ने पृथ्वी के श्रेष्ठ स्थान समुद्र को पार करके उस राक्षस के स्थान लंका को जला दिया और दशबाहु रावण तथा लंका की अधिष्ठात्री देवी को पीड़ित किया।

हर्म्यस्य सक्षणिमित्येतद्विवृणोति—समीति । ईमित्यन्तलोप इत्यादिना मकारस्य लोपः प्रकरणात् । स केसरी हनुमान् अदितेः पृथिव्याः उपस्थे श्रेष्ठस्थाने आजिगात् आगतः सिन्धोः पारं प्राप्तः, तत्रापि गोः पृथिव्याः अपीच्यम् अत्यंतरमणीयम् अस्य रक्षसः पदं स्थानं लङ्काख्यं यत् मतुथाः मननीयगाथाः स्तोतव्याः शिल्पिनो विश्वकर्मादयः अजीजनन्, तत् उप उपेत्य ज्रयति जरयति शिथिलं करोति, य ईं एतत्पदं रथं न रथयोजितमश्वमिव सं समेत्य अस्य भुरिजोर्बाह्वोर्दशस्वसारोऽङ्गुलयः अहेषत हेषणं कृतवत्यः, यथाऽश्वोऽश्वमेत्य हेषते, एवं अस्यांऽगुलयो लङ्काधिष्ठात्रीं देवतामेत्याहेषन्त उभयतश्चपेटिकाभ्यां तां ताडितवानिति भावः ॥ ९० ॥

श्येनो न योनिं सदनं धिया कृतं हिरण्ययमासदं देव एषति ।
ए रिणंति बर्हिषि प्रियं गिराश्वो न देवाँ अप्येति यज्ञियः ॥९१॥

ऋ. ९. ७१. ६

जिस प्रकार श्येन गगनमार्ग से नीड़ में जाता है वैसे ही वह देव ब्रह्मसङ्कल्प से रामपत्नी-रूप घर में जाता है। श्री रामभद्र के अभिज्ञान अंगूठी को देने वाले हनुमान की ओर अभिमुख होकर बैठी हुई सीता से उनको प्रसन्न करने वाली यज्ञादि मार्ग में प्रवृत्त वाणी से हनुमान ने कहना प्रारम्भ किया।

श्येनो नेति—यथा श्येनो योनिं कुलायं गगनमार्गेण एषति गच्छति एवं देवो महारुद्रः धिया कृतं ब्रह्म सङ्कल्पनिर्मितं सदनं श्रीरामदाररूपं गृहं एषति । कीदृशं गृहं हिरण्ययम् आसदं हिरण्यं याति प्राप्नोति श्रीरामभद्रदत्तमभिज्ञानांगुलीयकप्रापकं हनुमन्तम् आभिमुख्येन सीदत्युपविशतीत्यासदं यो यज्ञियोऽश्वो न अश्व

इव देवान् प्रीणयन् अप्येति, ईम् एनं प्रियं देवानां मासतमं बर्हिषि यज्ञे निमित्ते यज्ञादिमार्गप्रवृत्त्यर्थं गिरा हेतुभूतया किंचिद्वक्तुमित्यर्थः। एरिणन्ति अभिमुखं प्रेरयन्ति, अभिज्ञानप्रदानेन विश्वस्तायां सीतायां हनुमान् वक्तुमारेभे इत्यर्थः ॥ ९१ ॥

परा व्यक्तो अरुषो दिवः कविर्वृषा त्रिपृष्ठो अनविष्ट गा अभि ।
सहस्रणीतिर्यतिः परायती रेभो न पूर्वीरुषसो विराजति ॥९२॥

ऋ. ९. ७१, ७

द्युलोक से परे, व्यक्त, शान्त, क्रान्तदर्शी, धर्मार्थ काम का सेवन करने वाले श्रीराम पत्नी-हरण के कारण शोक से सभी दिशाओं को शून्य देखकर हाहाकार करते हैं। वह इस समय आपको प्राप्त करने के लिये हजारों शूरवीरों को लेकर आयेंगे। आपके वियोग के आरम्भ से लेकर अब तक वह महोक्ष के समान शब्द करते रहे हैं।

वचनमेवाह–परेति–दिवो द्युलोकात् परा दूरे व्यक्तः अक्षयदस्तः–"परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते" इति श्रुतेः। अरुषः शांतः शुद्धेन रूपेण कविः क्रांतदर्शी सर्वज्ञो मायाविरूपेण वृषा गृहस्थधर्मरूपः त्रिपृष्ठः त्रयो धर्मार्थकामाः यज्ञराज्य-रतिरूपाः दारहरणात् पृष्ठे यस्य स त्रिपृष्ठः गाः अभि भूप्रदेशान् अभिव्याप्य अनविष्टशब्दमकरोत् त्वच्छोकेन सर्वा दिशः शून्याः पश्यन् हाहाशब्दं करोती-त्यर्थः ॥ एतेन मधुमान् द्रप्सः पविारमर्षतीति सीतया पृष्टं यत् रामो मयि प्रीतिमानस्तीति तस्येदमुत्तरम् ॥ यत्पृष्टं रावणं सपरिवारं दग्धुमेष्यति तस्योत्तर-माह–सहस्रेति। स इदानीं यतिःत्वत्प्राप्त्यर्थं यतमानः सहस्रणीतिःसहस्राणि अनंतानि शूराणां नयतीति, तथा–परायतिः शत्रून् पराकर्तुं यतमानः रेभो न शब्दं कुर्वाणो महोक्ष इव पूर्वीरुषस आरभ्य अस्माकं त्वद्वियोगकालमारभ्य सम्प्रति विराजते दीप्यते वह्नीं सेनामादाय शत्रुनुन्मूलयितुं क्षमते इत्यर्थः ॥ ९२ ॥

त्वेषं रूपं कृणुते वर्णो अस्य स यत्राशयत्समिता सेधति स्रिधः ।
अप्सा याति स्वधया दैव्यं जनं सं सुष्टुती नसते सं गोअग्रया ॥९३॥

ऋ. ९. ७१, ८

क्षत्रिय वर्ण के स्वभाव के तेज से अपने को दीप्त करते हुए वह संग्राम में शत्रुओं का नाश करते हैं। देवताओं के कार्य को करते हुए, उससे उत्पन्न लाभ के विषय में निर्जल व्रत करने के समान अर्थात् लाभ की कामना से रहित अधिदेवता सुन्दर स्तुति के द्वारा आतिथ्य करते हैं।

त्वेषमिति—अस्य रामरूपस्य सोमस्य वर्णः क्षत्रियः तेन तत्स्वभावः 'शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं' इत्यादिः त्वेषं दीप्तं रूपमात्मनः कृणुते कुरुते, सः यत्र यस्यां समिता समितौ संग्रामे स्त्रिधः शोषकान् शत्रून् सेधति निषेधति, तत्र तान् अशयत्शयनमकारयत् अस्मात् कश्चिदपि शत्रुर्जीवन्न मुच्यते इत्यर्थः। तेनाऽव-श्यमसौ रावणं सपरिवारं मारयिष्यत्येवेत्युक्तम्। स्वधाय पितृकार्येण निमित्तेन दैव्यं जनं देवताकार्यनिमित्तं च अप्साः अपां सनिता विभाजकः सन् याति अनुसरति, सर्वं देवपितृकार्यमद्भिरेव कुर्वन् स्वयमपि तल्लाभार्थमब्भक्षव्रतो-ऽस्तीत्यर्थः। तथा सुष्टुती शोभनया स्तुत्या संनसते देवैः पितृभिश्च सह सङ्गतो भवति स्तुतिमात्रेण तेषामातिथ्यं करोतीत्यर्थः। कीदृश्या सुष्टुत्या सङ्गो अग्रयेति—समीचीना गीर्वाणी सुरसंस्कारादिमती अग्रे पुरोवर्तिनी प्रधानभूता यस्यां सा तयेत्यर्थः॥ सुरसशब्दगुम्फितया स्तुत्येत्यर्थः॥ ९३॥

उक्षेव यूथा परियन्नरावीदधि त्विषीरधित सूर्यस्य।
दिव्यः सुपर्णोवचक्षत क्ष्मां सोमः परि क्रतुना पश्यते जाः॥९४॥

ऋ. ९. ७१, ९

'किसने तुम्हें दक्षिण दिशा की ओर जाने के लिये प्रेरित किया,' ऐसा पूछने के लिये इच्छुक सीता से हनुमान ने स्वयं कहा: 'जिस प्रकार इच्छुक वृष गोयूथ के पास आता है उसी प्रकार सम्पाति नामक पक्षी ने वानर समूह के पास आकर उन्हें वचनामृत से सींचा। सूर्य के तेज से जले हुए पंख वाले, ऊपर से पृथ्वी को देखने वाले, ब्रह्मभाव को प्राप्त सम्पाति ने राम की पत्नी सीता को दिव्यदृष्टि से देखते हुए 'इस स्थान पर सीता है' यह बताया।'

केन त्वं दक्षिणां दिशं प्रति गन्तुं विसृष्ट इति प्रष्टुमिच्छन्तीं सीताम् आलक्ष्य स्वयमेवाह—उक्षेवेति। यथा उक्षा रेतःसेचनकामः यूथा गायूथानि परियन् परिक्रामन् एति, एवं दिव्यः सुपर्णः सम्पातिनामा पक्षी वानरयूथानि परिक्रामन् वचनामृतसेचनकामोऽरावीत्, इमं शब्दं कृतवान्। कोऽसौ यः सूर्यस्य त्विषीः दीप्तीः अधि अधिकम् अधित धृतवान्, सम्पातिजटायू पक्षिणौ अरुणपुत्रौ सूर्यं स्प्रष्टुं प्रस्थितौ, तयोः सूर्यदीप्त्या दह्यमानयोर्मध्ये सम्पातिः स्वपक्षाभ्यां जटायुमाच्छादयत् अधिको दग्धोऽभूदित्युपाख्याने। यः सुपर्णः क्ष्मां पृथ्वीं कृत्स्नाम् अवचक्षत उपरि भूत्वाऽधःपश्यति, स एव क्रतुना उपासनया सोमः सोमभावं गतः, स च तस्य जाः जायां सीतां परिपश्यते दिव्यदृष्ट्या त्वां-दृष्ट्वाऽमुष्मिन् स्थले सीताऽस्तीत्यस्मान् प्रयुक्तवानित्यर्थः। एतेन यदुक्तम्, "नैद्राद्दवे

पवते धाम किंचन" इति तस्याऽयमुपसंहारः । सोमः परिक्रतुना पश्यते जा इति ॥ ९४ ॥

अवीरामिव मामयं शरारुरभिमन्यते ।

उताऽहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥९५॥

ऋ. १०. ८६, ९

इस प्रकार अपने प्रति राम के अनुग्रह को सुनकर सीता हनुमान से अपने दुःख और इष्ट को कहती हैं : 'यह रावण मुझे वीररहित के समान मानते हुए, राक्षसियों द्वारा धमकाता है। किन्तु मैं वीरवती और श्री राम की पत्नी हूँ। वायुपुत्र तुम जिसके सखा हो, अतः मैं मरुत्सखा हूँ, इसलिये मैं तीनों लोकों में उत्कृष्ट हूँ।'

एवं रामानुग्रहमात्मनि श्रुत्वा सीता हनुमन्तं स्वस्य दुःखमिष्टं च निवेदयति— अवीरामिवेति द्वाभ्याम् ॥ अयं शरारुर्मुमुर्षुः रावणः माम् अवीरामिव वीररहितामिव अभिमन्यते हिनस्ति राक्षसीद्वारा तर्जयति, उत परन्तु अहं वीरिणी वीरवती अस्मि इन्द्रपत्नी परमेश्वरस्य सहचारिणी मरुद्वायुस्तत्पुत्रःत्वं च सखा यस्याः सा मरुत्सखाऽस्मि विश्वस्मात् त्रैलोक्यादिन्द्र उत्तरः उत्कृष्टतरः, अत एवं वीरवतीं मां धर्षयन् अयं मरिष्यत्येवेत्यर्थः ॥ ९५ ॥

संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति ।

वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥९६॥

ऋ. १०. ८६, १०

जो स्त्री अग्निहोत्रादि करती है वह सत्यकर्म से वीरवती होकर इन्द्राणी के समान महान रूप से सुशोभित होती है।

संहोत्रमिति—होत्रम् अग्निहोत्रादिकं समनम् "यान्येव संग्रामनामानि तानि यज्ञनामानि" इत्युक्तेर्यज्ञं वा या नारी पुरा अवगच्छति सा ऋतस्य कर्मणो यज्ञादेः वेधाः स्रष्टा वीरिणी वीरयुक्ता च भूत्वा इन्द्रपत्नी यथा महीयते होत्रादिना तथा पुनरिन्द्रः करोत्विति शेषः ॥ पक्षे यज्ञविवेकाभ्याम् अग्निजटायुभ्यां संरक्षितां श्रद्धां मां बोध राम एव नेतुं समर्थ इति भावः ॥ मरुत्प्राणः सूत्रात्मा ॥ ९६ ॥

इदं त एकं पर ऊं त एकं तृतीयेन ज्योतिषा संविशस्व ।

संवेशने तन्व १ श्चारुरेधि प्रियो देवानां परमे जनित्रे ॥९७॥

ऋ. १०. ५६, १

इस प्रकार सीता के कहने पर हनुमान बोले : 'हे सीते ! तुम्हारे द्विदलरूप दाम्पत्य का एक दल तुम्हारे रूप में यहाँ है और समुद्र के पार रामरूप एक दल है। तीसरा मैं प्रकृष्ट सहायता से आप दोनों को मिला दूँगा। संयोग से सुन्दर, देवप्रिय, यज्ञार्ह राम तुम्हारे पति हैं और तुम प्रजा की उत्पत्ति के लिये स्थिर होवो।'

एवं सीतयोक्तो हनूमान् सीतामाह—इदमिति भोः सीते त्वं द्विदलस्य दांपत्यस्य इदं त्वद्रूपमेकं दलम्, परऊं तारकं पुरस्ताच्च समुद्रस्य पारेतवैकं दलं रामरूपमस्ति, अतस्तृतीयेन मया ज्योतिषा प्रभवता सहायेन संविशस्व मिथुनीभव अहं त्वां प्रापयिष्यामीत्यर्थः। संवेशने संयोगे तन्वः शरीरार्धस्य चारुः शोभनो देवानां प्रियो यज्ञार्हस्ते भर्ताऽस्ति, त्वं च जनित्रे प्रजोत्पत्यै स्वगृहे एधि स्थिरा भव ॥ पक्षे निष्काममक्तिरेव श्रद्धां वांधान्मुखीकर्तुमर्हति भावः ॥ ९७ ॥

तनूष्टे वाजिन तन्वं १ नयन्ती वाममस्मभ्यं धातुशर्म तुभ्यम् ।
अहुतो महो धरुणाय देवान दिवीवज्योतिः स्वमामिमीया ॥९८॥

ऋ. १०. ५६, २

इस प्रकार कहने पर सीता जी बोलीं : 'हे वेगशाली वानर ! मैं तुम्हारे शरीर पर चढ़कर शीघ्र ही राम का दर्शन कर सकती हूं, किन्तु यह मेरे लिये लज्जास्पद है। (पर पुरुष का स्पर्श पत्नी के लिये उचित नहीं है, रावण का स्पर्श तो अनिच्छा से हो गया था, उसमें मेरा दोष नहीं है)। दूसरों के द्वारा अनभिभूत, महान राम, देवकार्य सम्पन्न करके मुझे स्वीकार करेंगे।'

एवमुक्ता सीता हनुमन्तमाह—तनूष्ट इति। हे वाजिन् वेगवन् वानर से तव तनूः अङ्गानि प्रतितन्वं स्वशरीरं नयन्ती प्रापयन्ती चेत् स्याम्, तर्हि तुभ्यं धातुवच्छरीरेण स्वशरीरं संधानम् अस्मभ्यं शीघ्रं रामदर्शनकारित्वेन शर्मप्रदमपि दामं कुटिलं राजभार्यापि परपुरुषस्पर्शं प्राप्तवत्यकीर्तिकरमित्यर्थः। रावण-स्पर्शस्त्वनिच्छन्त्या जात इति न तत्र मम दोष इति भावः। अतोऽहुतः परैरनभिभूतः महो महान् रामः देवान् देवकार्यं कृत्वा मां परीत्य स्वीकरोत्वि-त्यर्थः। नियाः आमो इतिमध्यमो व्यत्ययेन वा ॥ ९८ ॥

दूरे तन्नाम गुह्यं पराचैर्यत्त्वा भीते अह्वयेतां वयोधै ।
उदस्तभ्नाः पृथिवीं द्यामभीके भ्रातुः पुत्रान् मघवन् तित्विषाणः ॥९९॥

ऋ. १०. ५५, १

'कुछ विश्वसनीय अभिज्ञान राम के लिये दीजिये' ऐसा कहने पर सीता ने हनुमान से कहा : 'बहुत समय तक दूर रहने वाली मुझे वे निश्चित याद करें, जिसके लिये हे मघवन ! आपने मुझ पीड़ा देने वाले पक्षी को त्राहि-त्राहि शब्द करने वाला कर दिया था। तुम्हारे अस्त्र से जलते हुए उस काक रूपधारी इन्द्र पुत्र को द्युलोक और पृथ्वीलोक में कोई भी बचाने में समर्थ नहीं था।

एवंचेत्किंचिद्विश्वासकरमभिज्ञानं रामाय ब्रूहीत्युक्त्वा सीता हनूमन्तमाह—दूरे तदिति। तद्बुद्धिस्थं गुह्यं दूरे बहुकालिकं पराचैर्दूरदेशीयैर्नाम निश्चितं बुद्धयस्वेति शेष:। यत् पक्षिमिसं भीषै द्यावापृथिव्यौ त्वा त्वां बयोधै वयसो मम पीडाकरस्य पक्षिणो विग्रहस्तस्मै तदर्थं अह्वयेताम् एनां काकेभ्यस्त्राहीत्याहूतवत्यौ तदा पृथिवी द्यां च उदस्तम्ना स्तब्धीकृतवानसि। अभिके कामुके पक्षिणि निमित्तभूते सति हेमघवन् लक्ष्मीपते भ्रातु. पुत्रान् विष्णोस्तव भ्राता इन्द्र: तत्पुत्रान् काकरूपान् बहुत्वमार्षं तिग्मिषाणा: इषीकया दीपयन् त्वदस्त्रदीपितं काकं कृत्स्ने द्यावापृथिव्या-वपि त्रातुं न शक्ते अभूतामित्यर्थ:। काकतुल्यं रावणं हत्वा मां नयेति भाव:॥ पक्षे कर्मैव श्रेयो न बोध इति विपर्ययो बोधभ्राता तन्न: संशय: काक: बोधप्रियां श्रद्धां कदर्थयन् बोधेन त्रैलोक्यादपनीत इति भाव:॥ मघवन् लक्ष्मीपते विद्यापते ॥ ९९॥

देवास आयन् परशूँरबिभ्रन्वाना वृश्चन्तो अभि विड्भिरायन्।
निसुद्र्वं दधतो वक्षणासु यत्रा कृपीटमनुतद्दहन्ति ॥१००॥

ऋ. १०. २८, ८

देवताओं के आने पर सीता का सन्देश प्राप्त करके प्रस्थान करते हुए हनुमान ने रावण की सम्पत्ति को नष्ट कर दिया। शीघ्र फैलने वाली अग्नि से वापी आदि के जल सुखा दिये और घरों को जला दिया।

देवास आयन्निति—देवास आयन्नित्येकस्मिन् बहुवचनं बहुत्वभ्रमात्, देवा: आयन् आगता: पर एवं सीतासन्देशं प्राप्य प्रस्थातुं हनुमान् शत्रुसम्पदं बबाधे तदावेदयन्ति राक्षसा रावणं प्रति। शून् अस्मदीयानेव अबिभ्रन् धृतवन्त: विड्भिर्जनसन्तानरूपाभि: प्रजाभि: सह वाना वनानि वृश्चन्त: छिन्दन्त: अभ्यायन् सुद्रु सुष्ठु द्रवतीति तं शीघ्रगम् अग्निं सेतुनिबद्धं तडागजलं वा वक्षणासु गृहैकदेश-निक्षेपेषु सेतुभङ्गेन नदीषु वा निदधत: सन्त:, यत्र कृपीटं वाप्यादौ जलमस्ति, तदपि अनुदहन्ति काष्ठादिकं दहन्तस्तदूष्मणा वाप्यादीन्यपि शोषयन्तीति भाव:॥ कृपीटमग्नियोनि: काष्ठादिकं वा कृपीटवत्वाद् तदनु अन्यदपि वज्रपाषाणादिकं

दहन्तीत्यर्थः पक्षे कामस्य नगरं विषयाः, भोग आरामः, तज्जो दुर्गः पुत्रः, ताम् विष्णुभक्तिं शमदमवैराग्यगर्भितत्त्वादनेकरूपाम् उच्छिन्दन्तीत्यर्थः ॥ १०० ॥

शशः क्षुरं प्रत्यञ्चं जगाराद्रिं लोगेन व्यभेदमारात् ।
बृहन्तं चिद्दृहते रन्धयानि वयद्वत्सो वृषभं शूशुवानः ॥१०१॥

ऋ. १०. २८, ९

यह सुनकर रावण शोक करता है कि जिस प्रकार पशु तीक्ष्ण धार वाले लौहायुध को निगल लेता है और वह अन्दर काटता हुआ प्रवेश करता है उसी प्रकार मैं सीता को अपने वध के लिये ले आया हूं। जिस प्रकार बछड़ा बैल के आधिक्य को देखता है वैसे ही मैंने महान स्वयं को क्षुद्र सुख के लिये पीड़ित किया है।

एवं श्रुत्वा रावणः शोचति—शशः क्षुरमिति । यथा शशः पशुः क्षुरं तीक्ष्णधारं लोहं प्रत्यञ्चं अभिमुखधारं जगार निगीर्णवान् अन्तःकृन्तन्नेव प्रविशति, एवं सीतां स्ववधार्थमानीतवानित्यर्थः । अद्रिं शैलं लोगेन क्षाति आदत्ते उद्गिरतीति लोगो लोष्टस्तेन आराद्दूरात् आगत्य व्यभेदं भेदितवानस्मि बृहन्तं महान्तं आत्मानं चित् निश्चितं द्रुहते क्षुद्राय सुखाय रन्धयानि पीडयानि यथा वयत् गच्छन् वत्सः वृषभं महोक्षं शूशुवानः वर्धमानः आधिक्यं दर्शयन् ॥ १०१ ॥

सुपर्ण इत्था नखमा सिषायाऽवरुद्धः परिपदं न सिंहः ।
निरुद्धश्चिन्महिषस्तर्ष्यावान् गोधा तस्मा अयथं कर्षदेतत् ॥१०२॥

ऋ. १०. २८, १०

पक्षिवत् आकाशचारी रावण ने हनुमान को ब्रह्मपाश से बांध लिया। बांधे जाने पर भी हनुमान स्वतन्त्र सिंह के समान विचरण कर रहे थे। उन हनुमान को वह बन्धन रोकने से उसी प्रकार असमर्थ था जैसे तृषित जङ्गली महिष रोके जाने पर भी जलाशय की ओर जाता है। उसी प्रकार बांधे जाने पर भी हनुमान विचरणशील थे।

एवंश्रुत्वा विचिन्त्यापि रावणो हनूमन्तं बबन्धेत्याह—सुपर्ण इति । सुपर्णः पक्षिवत्खेचरो रावणः इत्था एवं व्यालग्राहिवत्, नखं न खिद्यते छेदनभेदनादिनेति नखं हनुमन्तम् आसिषाय ब्रह्मपाशैराबबन्ध, स चावरुद्धो बद्धापि परिपदं नसिंहः सिंह इव स्वतन्त्रः परितोगच्छत्येव तथा तर्ष्यावान् तृषाक्रान्तो जलाशयाभिमुखो महिषो महानारण्यकः चित् इव निरुद्धोपि रोधकान् कर्षत् एवमेतत् तस्मै हनुमते अयथं असदृशं गोधा परिवेष्टनं पाशैर्बन्धनं गुध परिवेष्टने पचाद्यचि टाप् दुर्बले-

निबद्धस्तानेव कर्षन् यथेष्टं सञ्चरतीति भावः ॥ १०२ ॥

अक्षानहो नह्यत नोत सोम्या इष्कृणुध्वं रशना ओत पिंशत ।
अष्टावन्धुरं वहताभितो रथं येन देवासो अनयन्नभि प्रियम् ॥१०३

ऋ. १०. ५३, ७

ब्रह्मपाश के बन्धन को भी न मानने पर हनुमान से देवता प्रार्थना करते हैं कि ब्रह्मपाश का अपमान नहीं करना चाहिये । 'हे सोम्य ! रावणपुत्र अक्ष को मृत्युपाश में बाँधते हुए तुमने अपने को नहीं बाँधा । ब्रह्मपाश को स्वीकार करके बाद में उसे खण्डित कर देना ।' आठ जगह से बँधे हुए अपने शरीर को नगर में पहुंच कर हनुमान ने देवताओं का प्रिय कार्य किया ।

स एवं ब्रह्मपाशैर्बद्धापि तान् यदा न गणयति तदैनं देवाः प्रार्थयन्ते ब्रह्मपाशानामपमानो मा भूदित्येतदर्थम्--अक्षानह इति । भोः सोम्याः विष्णुभक्ताः अक्षानहः अक्षं रावणपुत्रं मृत्युपाशैर्बध्नन्तो यूयं नह्यत न आत्मानमपि बध्नीत, रशनाः ब्रह्मपाशान् इष्कृणुध्वं स्वीकुरुध्वम् आ उत पश्चात् पिंशत विभजत स्वीकृत्य खण्डयत अष्टावन्धुरं जानुद्वयकूर्परद्वयस्कन्धद्वयजङ्घाद्वयेषु बन्धनवन्तं रथं देहम् अभितो नगरे वहत प्रापयत येन देवासो देवाः अभिप्रियं स्वेष्टम् अनयन् प्राप्नुवन् पुरे सञ्चरता कृत्स्नेऽस्मिन् दग्धे देवाः सुखं प्राप्स्यन्तीत्यर्थ. ॥ पक्षे अक्षानहः इन्द्रियजयिन. अभित. कर्मोपासनामार्गयो. विधिनिषेधपाशानङ्गीकृत्य विषयान् भोगांश्चोत्साद्य लब्धपरोक्षबोधाः अशनादीनि प्राणादिषु प्रक्षिप्य आत्मानमसङ्गं भावयतेत्यर्थः ॥ १०३ ॥

रक्षोहणं वाजिनमाजिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुपयामि शर्म ।
शिशानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा सरिषः पातु नक्तम्
॥१०४॥

ऋ. १०. ८७, १

इस प्रकार बंधे हुए हनुमान की पूँछ में लगी हुई अग्नि से सीता प्रार्थना करती हैं— 'राक्षसों का वध करने वाले वानर को देखकर शोक से अश्रु बहाती हूं । अतः मित्र हनुमान के पिता वायु के सखा अग्नि से हनुमान के कल्याण की याचना करती हूँ । देदीप्यमान अग्नि को पहले यज्ञ द्वारा हमलोगों द्वारा सन्दीप्त किया गया है, इस समय वह हमलोगों के इस सम्बन्धीजन की दिनरात रक्षा करे ।'

एवं वदस्य हनुमतः पुच्छे लापितमग्नि सीता प्रार्थयते—रक्षोहणमिति। रक्षोहणं रक्षसां अक्षादीनां हन्तारं वाजिनं हरिं वानरं दृष्ट्वा आजिघर्मि क्षरामि शोकेनाऽश्रूणि निवर्तयामीत्यर्थः ॥ अतो मित्रं हनुमत्पितुर्वायोः सखायं प्रथिष्ठं प्रथमानम् अग्निं शर्म हनूमते कल्याणं उपयामि उपेत्य याचामि। तत्त्वायामीतिवत् वर्णलोपश्छान्दसः। शिशानो दीप्यमानोऽग्निः क्रतुभिः यज्ञैः पूर्वम् अस्माभिः समिद्धः सन्दीपितः स इदानीं नोऽस्मत्सम्बन्धिनं जनं दिवा नक्तं च रिषः हिंसातः पातु ॥ पक्षेऽग्निर्विज्ञानम्, तद्युता भक्तिः कृत्स्नां कामसम्पदं नाशितवतीत्यर्थः ॥ १०४ ॥

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुपस्पृश जातवेदः समिद्धः।
आजिह्वया मूरदेवान् रभस्व क्रव्यादोवृक्त्व्यपिधत्स्वासन् ॥१०५॥

ऋ. १०. ८७, २

'हे अग्नि! तुम अपनी ज्वाला से राक्षसों को स्पर्श करो। ज्वाला रूपी जिह्वा से असुरों के मांसादि रूप ग्रास को एकीकृत करके तिरोहित कर दो।'

अयोदंष्ट्र इति—अयोदंष्ट्रः अर्चिषा ज्वालया यातुधानान् राक्षसान् उपस्पृश, हे जातवेदः समिद्धः सन् जिह्वया महाज्वालया मूरदेवान् मूलदेवान् पूर्वदेवान् असुरान् इति यावत् आरभस्व स्पृश क्रव्यादो मांसादांश्च तान् वृक्त्वी एकीकृत्य च आसन् आस्येऽपिधत्स्व तिरोहितान् कुरु ॥ पक्षे अयोदंष्ट्रोऽभेद्यार्थभेदनक्षमः अर्चिषा सात्त्विकवृत्त्या यातुधानान् क्रोधादीन् निगृह्णीष्व, जातवेदः हे अग्ने अतीतानेकजन्मादिद्रष्टृत्व शेषं स्पष्टम् ॥ १०५ ॥

यत्रेदानीं पश्यसि जातवेदस्तिष्ठंतमग्न उत वा चरन्तम्।
यद्वांतरिक्षे पथिभिः पतन्तं तमस्ता विध्य शर्वा शिशानः ॥१०६॥

ऋ. १०. ८७, ६

'हे अग्नि जहाँ तक देखते हो, वहाँ तक चलो। अन्तरिक्ष पथ पर चलते हुए रावण की इच्छाओं को अपनी दीप्तशिखाओं से नष्ट कर दो।

यत्रेति—तं रावणं कामं वा विध्य भिन्धि दूरीकुरु वा शर्वा सर्वाणि हिंस्राणि रक्षांसि शिशानः दीपयन् तयोरुभयोरपि अस्ता अस्तानि गृहाणि इष्टकाष्ठादिमयानि कामविषयभूतानि स्रगादीनि वा शेषं स्पष्टम् ॥ १०६ ॥

परित्वाऽग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि।

धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भंगुरावताम् ॥१०७॥

ऋ. १०. ८७, २२

'हे अग्नि ! तुम व्यापक हो, तेजस्वी हो, शत्रु के नगर को चारों ओर से घेर कर स्थिर हो जाओ और नित्य उसका नाश करो।'

परीति—हे अग्ने त्वा त्वां विप्रं व्यापकम् हे सहस्य तेजस्विन् पुरं परि अरिनगरस्य परितः धीमहि स्थापयामः कृत्स्नं नगरमावेष्ट्य यथा बहिर्निःसर्तुमन्यो न शक्नोति, तथा स्थिरो भवेत्यर्थः धृषत् अन्यं धर्षयन् वर्णो यस्य तं त्वां धृषद्वर्णं दिवेदिवे नित्यं भंगुरं विनाशिशीलं मायामयं अहङ्कारादि तद्वत् तां भंगुरावतां हन्तारं निवोमहि ॥ पक्षे सर्वशरीरस्थं पाप्मानं भस्मी कुरु, यथा बहिर्वासना न निःसरेयुस्तथेति भावः ॥ १०७ ॥

हरिं मृजन्त्यरुषो न युज्यते सं धेनुभिः कलशे सोमो अज्यते ।
उद्वाचमीरयति हिन्वते मती पुरुष्टुतस्य कतिचित्परिप्रियः ॥१०८

ऋ. ९. ७२, १

इस प्रकार लङ्का को जलाकर वानरों के साथ हनुमान राम के पास आ गये। जैसे कलश में गाय का दूध रखा जाता है उसी प्रकार शान्त श्रीराम ने कार्य करने वाले हनुमान पर प्रेमपूर्वक हाथ रखकर उन्हें सम्मानित किया। मेधावी स्वामी का हित चाहने वाले वानर ने कहा कि ब्रह्मादि के द्वारा स्तुत्य आप जो मेरी स्तुति कर रहे हैं उसको तुलना में मेरे द्वारा किया गया कार्य क्षुद्र है।

एवं लङ्कां दग्ध्वा वानरैः सह हनुमान् रामं प्रत्यागत इत्याह-हरिं मृजन्तीति-हरिं वानरं हनुमन्तं कृत कार्यं मृजन्ति प्रेम्णा हस्तेन परिमार्जयन्ति के अरुषः रोषरहिताः शान्ताः श्रीरामभद्राः बहुत्वं पूजायाम् एतेनान्वेषणात्प्राकृतकोपाः स्थिता इति गम्यते, नशब्द उपमार्थे उत्तराग्वयी यथा धेनुभिर्धेनुप्रभवैः पयोभिः कलशे द्रोणकलशे सोमः समज्यते सङ्गतो भवत्यतिशयाधानाय, एवं यो हरिर्युज्यते अर्थात्स्वामिनेति लभ्यते। स च हरिः वाचम् उदीरयति। हिन्वते वर्धयते च स्वामिनं यतो मती मेधावी सुपः पूर्वसवर्णः तामेव वर्धनरूपां वाचमाह—पुरुष्टुतस्य कतिचित्परिप्रिय इति बहुभिः ब्रह्माद्यैः स्तुतस्य तव मदीयाः परिप्रियः परितः प्रीणयन्ति ताः स्तुतिवाचः कतिचित् कियत्यः यावती स्तुतिर्मया कर्तव्या सा सर्वथाप्यत्यल्पैवेति भाव ॥ १०८ ॥

साकं वदंति बहवो मनीषिण इन्द्रस्य सोमं जठरे यदादुहुः ।

यदीं मृजंति सुगभस्तयो नरः सुनीलाभिर्दशभिः काम्यं मधु ॥१०९

ऋ. ६. ७०, २

बुद्धिमान वानर एक साथ श्रीराम से कहते हैं : इन्द्र की जठर तृप्ति के लिये सोमयाग करने वालों की रामपर्यन्त गति है। यह राम मनुष्यों के काम्य हैं, प्रज्ञावान लोग पाँच प्राणवृत्तियों और पाँच बुद्धिवृत्तियों के द्वारा तथा सभी कर्मों और सभी ज्ञानों के द्वारा इन राम को पाने की चेष्टा करते हैं।

साकमिति—अतः परं बहवो मनीषिणो धीमन्तो वानराः साकं युगपत् श्रीरामभद्रं प्रवदन्ति, यत् यतः कारणात् ते सर्वे इन्द्रस्य जठरे जठरतृप्त्यर्थं सोमं पयोभिर्मिश्रयितुम् आदुहुः दुग्धवत्या धेन्वाः कृतसोमयागास्तेषां रामपर्यन्तं गतिरासीदित्यर्थः॥ कुत एवं रामस्य दौर्लभ्यमत आह—यदिति। यत् यतः ईम् एनं रामं काम्यं कामनीयं मधु अमृतं नरो मनुष्याः सुगभस्तयः प्रज्ञानांशवो विशुद्धचेतस्त्वाद्येषां वै तथाभूताः दशभिः सनीळाभिः समाननीडाभिः पञ्चभिः प्राणवृत्तिभिः पञ्चभिर्धीवृत्तिभिश्च सर्वैः कर्मभिः सर्वैर्ज्ञानैश्च मृजन्ति मृगयन्ति, तस्माद्रामेण सह सम्वादो महतः पुण्यस्य फलमिति ज्ञेयम्॥ १०९॥

अरममाणोऽअत्येति गा अभि सूर्यस्य प्रियं दुहितुस्तिरो रवम्।
अन्वस्मै जोषमभरद्विनंगृसः सं द्वयीभिः स्वसृभिः क्षेतिजामिभिः ॥११०॥

ऋ. ६. ७२, ३

'हे राम! तुम्हारे वियोग से आतुर सोम, सूर्य की पुत्री पतिव्रत के कारण प्रसिद्ध सावित्री को तिरस्कृत करके भू-प्रदेश को पार करके अन्य लोकों में चला गया। इस प्रकार के सोम को पाने के लिये रावण ने पर्याप्त प्रयत्न किया। कमनीय वस्तुओं को समर्पित किया और वह सावित्री इष्टवियोग से उत्पन्न शोक से क्षीण हो रहा है।

सम्वादमेवाह तिसृभिः—अरममाण इति। इन्द्र ते ऋत्वियः सोम इति पदचतुष्टयमुत्तरमन्त्रादपकृष्यते हे इन्द्र श्रीराम ते तव सोमः सोमाभिषवनिमित्तभूता ऋत्वियः ऋतौ ईयते गम्यत इति ऋत्वियः ऋतुशब्दकादिण.। कः इयङ् ऋतुकालैकगम्या जायेत्यर्थः। स सोमस्त्वद्वियोगातुरः सूर्यस्य दुहितुः पतिव्रतात्वेनातिप्रसिद्धायाः सावित्र्याः प्रियं रवं कीर्तिशब्दं तिरः तिरस्कृत्य गाः भूप्रदेशान् अभितो व्याप्य अत्येति अतिक्रम्य गच्छति लोकान्तराणीति शेषः॥ एवं तस्याः

पातिव्रत्यमुक्त्वा दुःखमाह:—अग्विति । अस्मै एनम् उक्तविधं त्वदीयं सोमं प्राप्तुं चिनं कमनीयं वस्तुजातं समर्पयितुं गृह्णातीति विनंगृसो रावणः जोपं पर्याप्तं यथा स्यात्तथा अन्वमरत् अनुहरति सर्वं कमनीयायै प्रयच्छति अथापि सा संक्षेति अतिशयेन क्षीयत एव जामिभिः सहचरीभिः स्वसृभिः एकयोनिभिः द्वयीमिरुम-यीभिः चेतोवृत्तिभिः हेतुभूताभिः संक्षेति इष्टवियोगजैः शोकादिभिरनिष्टसंयोग-जैर्भयादिभिश्चातिक्षीणास्तीत्यर्थः ॥ ११० ॥

नृधूतो अद्रिषुतो बर्हिषि प्रियः पतिर्गवां प्रदिव इन्दुर्ऋत्वियः ।
पुरंधिवान् मनुषो यज्ञसाधनः शुचिर्धिया पवते सोम इन्द्र ते ॥१११

ऋ. ९. ७२, ४

राक्षसियों के द्वारा डरायी जाने पर भी शान्त बैठी हुई, जिसके जितेन्द्रिय ईश्वर आप पति हैं, मानव रूप में आपके यज्ञ में सहधर्म-चारिणी, वह सीता बुद्धि से अपने को पवित्र करती है ।

नृधून इति—नृभिः राक्षसीभिर्धूतोऽवधूतः भीषितः अद्रिसुतः अद्रयः पाषाणाः सुता आज्ञप्ताः यस्मै पाषाणैरियं चूर्णीकर्तव्येति एवं भीषितोपि बर्हिषि तृणे निषण्णा इति शेषः ॥ प्रियस्तव गवां पतिर्जितेन्द्रियः प्रदिवः पुराणः इन्दुः ईश्वरः स्वसंरक्षणे प्रभुः ऋत्वियः व्याख्यातः पुरन्धिवान् बहुधीयुक्तः मनुषो मनुष्यरूपस्तव यज्ञसाधनः सहधर्मचारी धिया शुचिः पवते आत्मानं पुनाति ॥ १११ ॥

नृबाहुभ्यां चोदितो धारया सुतोऽनुष्वधं पवते सोम इन्द्र ते ।
आप्राः क्रतून् समजैरध्वरे मतीर्वेर्न द्रुषच्चम्वो३रासदद्धरिः ॥११२॥

ऋ. ९. ७२, ५

'हे राम ! तुम्हारा सोम बाणरूप से तुम्हारी भुजाओं से प्रेरित होता हुआ प्रत्येक शरीर में जाता है । वर्तमान काल में तुम सङ्कल्प से सीता को अवश्य प्राप्त करोगे । युद्धरूपी यज्ञ में वानरगण राक्षससेना को बुद्धि और शौर्य से जीतेंगे । पक्षी के समान वृक्ष पर चढ़ने वाले हनुमान ने समुद्र पार करके सीता को देखा है ।

नृबाहुभ्यामिति—हे इन्द्र हे तव सामः सोमयागसाधनं सीताख्यः बाणरूपेण परीतः सन् बाहुभ्यां नररूपस्य तव बाहुभ्यां भुजाभ्यां चोदितः प्रेरितःसन् अनुष्वधं स्वधा अन्नं तेन तद्विकारो देह उच्यते प्रतिशरीरं पवते गच्छति शीघ्रमेवेत्यर्थः । वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवन्निर्देशात् । कीदृश धारया अविच्छिन्नप्रवाहेण सुतः निसृष्टः त्वं च क्रतून् सङ्कल्पान् स्वस्य सीताया अस्मदादीयांश्च आ अतिशयेन आप्राः

पूरितवानसि, कार्यसिद्धयवश्यम्भावको भूतप्रयोगोऽगन्म सुवः सुवरगन्मेतिवत् तथा अध्वरे युद्धयज्ञे चम्वोः वानरराक्षससेनयो: मती: बुद्धी: बुद्धिधर्मान् शौर्यादीन् समजैः सम्यग्विजितवानसि ॥ अस्मन्निरपेक्ष एव शत्रून् निहन्तुं समर्थोऽसीत्यर्थः यतस्त्वेति भावः ॥ कथं युष्माभिः सीता दृष्टेत्याशङ्कायां हनूमन्तं निर्दिश्य वदन्ति श्येनद्रुपत्पक्षीव वृक्षारूढो हरिर्हनुमान् आसदत् प्राप्तवान् त्वदीयं सोमसाधनमित्यनुषङ्गः समुद्रव्यवहिते पश्चिमप्राप्ये देशे सीता हनुमता समुद्रं लङ्घयता दृष्टेत्यर्थः ॥ ११२ ॥

अंशुं दुहंति स्तनयंतमक्षितं कविं कवयोऽपसो मनीषिणः ।
समीं गावो मतयो यंति संयत ऋतस्य योना सदने पुनर्भुवः ॥११३

ऋ. ९. ७२, ६

सूर्य, वायु और अग्नि तीनों के सारतत्व को (अग्नि से परदाहकत्व, सूर्य से प्रकाशत्व, वायु से शीघ्रगमन) ग्रहण कर लिया है । गर्जन करते हुए अक्षीण बल से वेगपूर्वक गगनमार्ग में जाने वाले वानरों ने गम्भीर समुद्र पर भी शिलाओं को जोड़कर पुल बनाकर भूमि के समान कर दिया ।

ततः किंकृतवत आह—अंशुं दुहन्तीति— अंशुम् अंशुमन्तं सूर्यं वायुमग्निं वा त्रयः केशिन इति "अग्निर्वायुः सूर्यश्च केशिनः" इति स्मृतेः तस्मात् अपसः कर्माणि दुहन्ति, यथा गोः सारभूतं पयो दुह्यते, एवं अग्नेः सारः परदाहकत्वम् सूर्यस्य सर्वविषयप्रकाशकत्वम्, वायोः शीघ्रगामित्वं बलवत्त्वं च मनीषिणो मनोनिग्रहसमर्थाः मतयो मेधाविनः वानराः दुहन्ति आददत इत्यर्थः । कीदृशम् अंशुं स्तनयन्तं गर्जन्तं प्रख्यातामित्यर्थः अक्षितमक्षीणं बलेन वेगेन चेत्यर्थः । कविक्रान्तदर्शिनम् एतानि क्रमेणाग्निवायुसूर्याणां योग्यतया विशेषणानीति ज्ञेयम् । गर्जन्तोऽक्षीणबलवेगाः गगनमार्गेण गच्छन्तीत्यर्थः । गत्वा च किं कृतवन्तस्तदाह—समिति । संयतः समेतीति संयत् संहतमचञ्चलं तस्य ऋतस्य सलिलस्य योना योनौ, सुपो डादेशः । आकरे समुद्रे, आधारे सदने, निषदने निमित्ते पुनर्भुवो गावः पूर्वं धातुः सकाशात् जाताः, पश्चाच्चतुष्कोणत्वाद्याकरेण शिल्पिभ्यो नलादिभ्यो भूताः गावो भूमयः सुघटितशिलारूपाः इं लोकप्रसिद्धवत् संयन्ति एकीभावेन मिलन्ति । यथा—पट्टांगणेष्वविवृतसंधयः शिला निविशन्ते, एवं स्तब्धोदके सिन्धावपीति तथांशुं दुहन्तीति सम्बन्धः ॥ ११३ ॥

नाभा पृथिव्या धरुणो महो दिवो३ऽपामूर्मौ सिन्धुष्वन्तरुक्षितः ।

इन्द्रस्य वज्रो वृषभो विभूवसुः सोमो हृदे पवते चारु मत्सरः ॥११४

ऋ. ९. ७२, ७

द्युलोक से भी महान जलपूर्ण नदियों से सिञ्चित समुद्र पर वानरों को धारण करने के लिये पुल बनाया। वज्र के समान अप्रतिहत गति वाले, धर्मस्वरूप, धन देने वाले, सोमयागादि से लोगों को पवित्र करने वाले, देवताओं के लिये प्रीतिकर श्रीराम के बल से समुद्र भी घनत्व को प्राप्त हो गया ताकि उस पर शिलायें तैर सकें।

नाभेति—दिवो द्युलोकादपि महः महति अपामूर्मौ सलिलानां सङ्घे 'द्यौः समुद्रसमन्तर' इति द्युसमुद्रयोः साम्यदर्शनात् तादृशे समुद्रे अन्तः मध्ये समुद्रस्य मध्ये इत्यर्थः ॥ पृथिव्याः नाभा। सुपो आदेशः। नाभिः नाभावुत्पन्नः पर्वत इति यावत् स धरुणो धारकोऽभूत्। समुद्रे नौकावत्पर्वतसमुदायोऽपि वानराणां धारणार्थं सेतुरूपेण स्थित इत्यर्थः ॥ कीदृशो नाभा सिंधुषु नदीषु निमित्तभूतासु उक्षितः सिक्तः शिरसि प्रवर्तमानाभिर्नदीभिः आर्द्रीकृतः अतिशयेन महानित्यर्थः ॥ एतेन "दशयोजनविस्तीर्णं शतयोजनमायतं"। सेतौ तत्तत्पर्वतशिरोगता नद्योऽपि बह्व्यः सन्तीत्युक्तम्। कथं सलिले शिलानां तरणमतआह—इन्द्रस्येति इन्द्रस्य परमेश्वरस्य रामस्य वज्रः वज्रवदप्रतिहतगतिः वृषभो धर्मः विभूनि व्यापकानि वसूनि फलानि यस्य स विभूवसुः। दैर्घ्यं सांहितिकम्। सोमः सोमयागादिजन्मा हृदे जनानां हृदयशोधनाय पवते गच्छति। कीदृशः सोमः मत्सरः देवानां मदकरः हर्षद इतियावत्। यथाऽऽग्नेये दिव्ये धर्मबलादग्निः स्वीयं दाहकत्वं त्यक्त्वा शीतत्वं भजति एवमिहापि रामधर्मबलाद्विशुद्धहृदयो महोदधिरपि स्वीयं मज्जकत्वं क्लेदकरत्वं च त्यक्त्वा घनत्वं गतः तेन तत्र पाषाणास्तरन्तीति भावः ॥११४॥

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्वस्वित्।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुपनक्तमेति ॥११५॥

ऋ. १०. ३४, १०

धूर्त रावण की पत्नी वैसे ही दुःखी रहती है जैसे कर्मानुसार परलोक को गये पुत्र की माता दुःखी रहती है। वह धूर्त दुर्ग में रहता हुआ भी डरता है और नष्ट होते हुए धन वाला वह रावण प्रदोष काल में सीता के पास आता है।

ततः परं द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां सोममेव स्तुत्वाऽग्रिमसूक्तस्य अक्षैर्दीव्यसस्येत्यादेराद्येन चतुर्ऋचेन पुनः सेतुबन्धनमेव स्तुतं तदृक्चतुष्टयमग्रे व्याख्यास्यते। ततः

परमृगपञ्चकं शेषभूतं तूपोद्घात एव व्याख्यातं तदेवं सेतुबन्धान्तां कथं समाप्य हनुमति समुद्रमुल्लंघ्याऽऽगते लङ्कायां किं वृत्तमित्याशङ्कायां पुत्रवधनगरदाहादिना तत्सयोर्मन्दोदरीरावणयोः शोकमाह—जायेति कितवस्य धूर्तस्य कपटसंन्यासिनः सीताहर्तुः रावणस्य जाया मन्दोदरी तप्यते, यतः हीना पुत्रेणैव वधस्विच्चरतः परलोकं कर्मानुरूपं गच्छतो माता हतपुत्रेत्यर्थः। कितवोऽपि ऋणावा ऋणशब्दो दुर्गभूमी लङ्काख्यदुर्गवान् समुद्रजलाश्रयवानपि हनुमत्प्रतापं दृष्ट्वा बिभ्यत् भयं कुर्वन् रावणः अन्येषां राघवाणाम्। अस्तं गृहं सीतां धनं राज्यं च इच्छमानः इच्छन् उपनक्तं प्रदोषकाले एति सीतास्थानं रत्यर्थी सन् गच्छति। पक्षे हर्षनाशेन सुखास्वादरूपायां मातर्युपतप्तायां कामरावणो मधुमत्याख्यां योगभूमिम् अयोगिभिर्दुर्गमां लङ्कारूपामाश्रितोऽपि भवेभ्यो बिभ्यत् रजोगुणस्योदयकाले पुनः श्रद्धां वशीकर्तुं कामयत इति भावः ॥ ११५ ॥

न मा मिमेथ न जिहील एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।
अक्षस्याऽहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम् ॥११६॥

ऋ. १०. ३४, २

वह रावण सीता द्वारा अपमानित होने पर पुत्र और पत्नी का शोक करता है। यह पत्नी न मुझे मारती है, न अपमानित करती है वरन् सखियों के द्वारा मेरे प्रिय को करती हुईं सर्वदा कल्याण रूपा है। हनुमान द्वारा उसके पुत्र अक्ष की हिंसा से मैं इस पतिव्रता पत्नि के धिक्कार के योग्य हूं।

सः रावणः पुनः सीतया यो वः सेनानीरिति प्रत्याख्यातः उभयभ्रष्टः पुत्रं भार्यां चाऽनुशोचति—नमेति एषा भार्या मा मां न मिमेथ न हिंसितवती, न जिहीले न मम हेलनं कृतवती, तथा सखिभ्यो मत्प्रियेभ्य उत मह्यं च सर्वदा शिवा कल्याणरूपैवासीत्। ताम्। अनुव्रतां जायाम् अक्षस्य सम्बन्धी यः एकश्चासौ परश्च एकपरस्तस्य हनुमता हेतोः अपाराधम् अक्ष निघ्नता हेतुभूतेन तेन अपरुद्धवानस्मि धिङ्मामित्यर्थः॥ पक्षे रतिं नाशयतः कामस्य वीर्यं बलं च धिग्धिगिति भावः ॥ ११६ ॥

द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाऽहं विदामि कितवस्य भोगम् ॥११७

ऋ. १०. ३४, ३

रावणबन्धु किसी से कहता है : 'हितोपदेश कर्त्ता से द्वेष करता है, पत्नी भोगादि से रोकती है, तप्त होता हुआ परपत्नीसङ्ग को नहीं गिनता है। अतः धूर्त के भोग शरीर को नहीं देखता हूं अतः यह कामदेवता से मारा जायेगा ! इन्द्रियों के क्षीण हो जाने पर मृत्यु उसके शरीर को ले जायेगी।'

द्वेष्टीति—रावणबन्धोः कस्यचिदुक्तिः श्वश्रूर्दा रपक्षीयान् स्त्रीगणान् हितोपदेशकर्तॄन् द्वेष्टि, जाया अपरुणद्धि भोगादौ निरुन्धे, नाथित उपतप्तः मडितारं सुखयितारं परदारसङ्गं न विन्दते, अतोऽस्य कितवस्य भोगं शरीरं न विन्दामि न पश्यामि, अयं कामवेदनया मरिष्यत्येवेत्यर्थः ॥ तत्र दृष्टान्तः—जरतो जीर्यमाणस्याश्वस्य मृत्युना क्रेत्रा वा नीतस्य शरीरं न दृश्यत एवमस्यापीत्यर्थः ॥ पक्षे विष्णुभक्त्या उपतापितः कामो भोगाशक्ति सुखास्वादलक्षणां रतिं च परिहरति श्रद्धां च वशीकर्तुं न क्षमते, अतोऽस्य स्वरूपं शीघ्रमेव नंक्ष्यतीति भावः ॥११७॥

सभामेति कितवः पृच्छमानो जेष्यामीति तन्वा३शूशुजानः ।
अक्षासो अस्य वितिरंति कामं प्रतिदीव्नेदधत आकृतानि ॥११८॥
ऋ. १०. ३४, ६

हनुमान के द्वारा लङ्कादाह कर दिये जाने पर अहङ्कार से शरीर को फुलाता हुआ रावण 'मैं जीतूँगा' इस प्रकार प्रश्नार्थी बनकर सभा में आता है। अक्षसदृश कनिष्ठभ्राता विभीषण आदि उसके मनोरथ को विशेष रूप से तिरस्कृत करते हैं।

सभामेतीति—एवं हनुमता लङ्कादाहे कृते सति कितवो धूर्तो रावणः पृच्छमानः प्रश्नार्थी सन् सभामेति जेष्यामीत्यहङ्कारेण तन्वा शरीरेण शूशुजानो वर्धमानः। वस्य जत्वं छान्दसम् ॥ अक्षासः अक्षसदृशाः कनिष्ठभ्रातरो विभीषणादयः अस्य कामं मनोरथं वितिरन्ति विशेषेण तिरस्कुर्वन्ति। कीदृशाः प्रतिजिगीषवे रामाय कृतानि सीताख्यपणितद्रव्यलाभसूचकानि लक्षणानि आदधतः समर्थयन्तः। पक्षे समागाख्यम्। अक्षासः प्रमाणानि प्रतिदीव्ने बोधाय शेषं प्राग्वत् अत्र प्रास्य धारा इति मन्त्रः पठनीयः स च व्याख्यात उपोद्घात एव तत्र सख्युर्विष्णोर्जामिं जायां सीताख्यां क्रन्दन्तीमपि भगवान् न एति न प्राप्नोतीत्येव पदार्थः—शेषं पूर्ववदेव ॥ ११९ ॥

उदीर्ष्वातः पतिवती ह्ये३ षा विश्वावसुं नमसा गीर्भिरीळे ।

अन्यामिच्छ पितृषदं व्यक्तां स ते भागो जनुषा तस्य विद्धि ॥११९॥

ऋ. १०.८५, २१

सभा रावण से प्रार्थना करती है कि 'आप सीता विषयक अभिलाषा से निवृत्त हों क्योंकि वह पतिव्रता हैं, परपत्नी व्यामोहकारी होती है। संसार के समस्त ऐश्वर्यों से युक्त आपसे हमलोग नमस्कार पूर्वक प्रार्थना करते हैं। आप अन्य किसी पितृगृह में स्थित कन्या की इच्छा कीजिये। जो आपके भाग्य में है उसे प्राप्त कीजिये।'

एवमुक्त्वापि तस्या रावणं प्रार्थयन्ते–उदीर्ष्वेति। अतःसीताभिलाषनिर्बन्धादुदीर्ष्व उद्गच्छ निवृत्तो भव, हि यतःएषा पतिव्रती परभार्या, विश्वावसुं रावण-व्यामोहकारी गन्धर्वः विश्वानि वसूनि यस्मिन् इति वा अवाप्तसकलकामं रावणं त्वां नमस्कारेण सह गीर्भिर्वाग्भिरीळे स्तौमि प्रार्थयामि। अन्यां पितृगृहस्थाम् अप्रत्तां कन्यामिच्छ, व्यक्तां विस्पष्टां जातस्त्रीलक्षणां सः सा स्त्री ते तव भागः जनुषा जन्मना तस्य तं विद्धि प्राप्नुहि॥ ११९॥

उदीर्ष्वातो विश्वावसो नमसेळामहे त्वा।
अन्यामिच्छ प्रफर्व्यं १ सं जायां पत्या सृज ॥१२०॥

ऋ. १०.८५, २२

विश्व के धन के स्वामी रावण, तुमको हम नमस्कार करते हैं। आप सीता के अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री की कामना कीजिये, सीता को उनके पति राम को दे दीजिये।

उदीर्ष्वेति–अत्र द्वितीयमन्त्रे इच्छेत्यन्तं प्राग्वत् प्रफर्व्यं प्रकर्षेण फलाभ्यां स्तनाभ्यां वेति रंहतीति प्रफर्वी:। तस्य त्वम् अन्तलोपश्च छान्दसः। प्रफर्व्यं सुस्तनीमित्यर्थः। जायां सीतां पत्या रामेण संसृज साम कुर्वित्यर्थः॥ पक्षे बोधप्रियां श्रद्धामपहाय विषयसुखदायिनीं श्रद्धामा श्रयस्वेति भावः॥ बोधेन सह कुर्वतस्तवाऽपि कल्याणं भवति–"बुद्धिनां च तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इति सर्वकर्मफलभागित्वश्रवणात्॥ १२०॥

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं १ विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥१२१॥

ऋ. १०.७१, ४

एक ओर प्रहस्तादि को देखकर और हनुमान द्वारा किये गये कार्य को देखकर भी शुक सरणादि द्वारा शत्रुपक्ष के बल को सुनकर भी नहीं

सुनता है। जबकि विभीषण के प्रति वाणी अपने स्वरूप को कामनायुक्त स्त्री के समान प्रकट करती है अर्थात् विभीषण दूसरों के द्वारा अदृष्ट भविष्य को देखता है।

एवं बोध्यमानेषु रावणादिषु किं वृत्तमत आह—उतत्व इति। उतत्वः अपि चैकःप्रहस्तादिः पश्यन् एकेन हनुमता कृतं कदनं पश्यन्नपि वाचं वचनस्यार्थं न ददर्श मदांधत्वात् उत त्वः अप्येको रावणादिःशृण्वन्नपि शुकसारणादिमुखेन परबलमाकर्णयन्नपि न शृणोति तन्मनसि न करोति दुराग्रहग्रस्तत्वात्, उतो अपि त्वस्मै अन्यस्मै विभीषणाय तन्वं स्वरूपं वाक स्वार्थं प्रकटीकरोति, यथा उशती कामयमाना जाया पत्ये सुवासाः ऋतुमती स्वं गुह्यं दर्शयति, तद्वत् अन्यैरदृष्टोऽपि भावी विभीषणादिभिर्दृष्ट इत्यर्थः ॥ १२१ ॥

परा पूर्वेषां सख्या वृणक्ति वितर्तुराणो अपरेभिरेति।

अनानुभूतीरवधून्वानः पूर्वीरिन्द्रः शरदस्तर्तरीति ॥१२२॥

ऋ. ६. ४७, १७

विभीषण जन्मबन्धु रावणादि के स्नेह को दूर करता है और मृत्यु आदि को पार करने की इच्छा करते हुए रामादि के साथ मित्रता करता है। अवश्य ही शत्रु को जीतूंगा' रावण के इस भ्रान्ति ज्ञान से दूर किया गया विभीषण भविष्य को देखता हुआ अमरत्व को प्राप्त करता है।

ततस्ते किम् चक्रुरत आह—परा पूर्वेषामिति पूर्वेषां जन्मबन्धूनां रावणादीनां सख्या सख्यानि स्नेहम् परावृणक्ति दूरीकरोति विभीषणादिः, विशेषेण तर्तुराणः मरणं तर्तुकामः अपरैः कायबन्धुभिः रामादिभिः सह सख्यानि एति अभिगच्छति, अनानुभूतीः रावणादीनांभ्रान्तिज्ञानानि अवश्यमेव शत्रून् जेष्याम इत्येवंरूपाणि अवधून्वानो दूरीकुर्वन् इन्द्रः इदम् भाविकदनम् पश्यतीति इदन्द्र इदन्द्र एव इन्द्रो विभीषणः पूर्वीः शरदः कालमृत्युं तर्तरीति अतिशयेन अमरत्वं प्राप्य तरति। इदमीदृशमिति— "तमिदन्द्रम् सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते" इति-श्रुतिदृष्टमत्र इन्द्रशब्दस्य निर्वचनम् ज्ञेयम् ॥ पक्षे पूर्वेषां कामादिनाम् अपरेषां शमादीनाम् अनानुभूतीर्देहाद्यात्मभ्रांतीः ॥ १२२ ॥

अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्था येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम्।

समर्यमा संभगो नो निनीयात्सं जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः ॥१२३॥

ऋ. १०. ८५, २३

ऐसा करने वाले विभीषण की पुरोहित स्तुति करते हैं : राक्षसादि

रूपी कण्टक से रहित पथ पर चलने वाले हमारे मित्र वैकुण्ठ स्थित होने पर भी पृथ्वी पर स्थित श्रेष्ठ स्थान राम के पास जावें। देव राम से हमारा मिलन करावें। राम और सीता का दाम्पत्य धर्म सुसंयत हो।

एवं कुर्वतां विभीषणादीनां पुरोहिता: स्वस्त्ययनं कुर्वन्ति—अनृक्षरा इति। ऋग्भ्यो वेदमार्गात् क्षरन्ति ते ऋक्षरा: राक्षसादय: कण्टका। तद्रहिता: अनृक्षरा:, अतएव ऋजव: पन्था: पन्थान: सन्तु, येभि: यै: पथिभि: नोऽस्माकं सखाय: वरेयं वरे श्रेष्ठे भूस्थानं याति सञ्चरति तं सर्वोपरि वैकुण्ठे स्थितमपि भूस्थं रामं यन्ति गच्छन्ति, अर्यमा देवो न: अस्मदीयान् सन्निनीयात् रामेण सह ऐक्यं गमयतात्, भगश्च सन्निनीयात्, तथा जास्पत्यं सीतारामयोर्दाम्पत्यं धर्म: सुयमं सुसंयतम् अस्तु, भो देवा। ॥ १२३ ॥

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवः।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि ॥१२४॥

ऋ. १०. ८५, २४

विभीषण सीता को आश्वासन देता है: 'कर्माध्यक्षदेवता सविता ने जिस वरुण के पाश के दुःख से तुम्हें बांधा है, उससे तुम्हें छुड़ाऊँगा। सुन्दर कर्मफल के भोगस्थान पुण्यस्थान में दुःखरहित होकर तुम पति के साथ विचरण करोगी।

गच्छन् विभीषण: सीतामाश्वासयति—प्रत्वेति। त्वा त्वां वरुणस्य पाशात् प्राणिदु:खदात् प्रमुञ्चामि, येन पाशेन त्वा त्वां सविता कर्माध्यक्षो देव: अबध्नात्, सुशेव: सुसुख. ऋतस्य कर्मफलस्य योनौ भोगस्थाने सुकृतस्य पुण्यस्य लोके स्थाने अरिष्टां निर्दु:खां त्वां सह पत्या दधामि मां चिन्तां कुर्वित्यर्थ:॥ वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवन्निर्देश:॥ १२४ ॥

आ सूर्यो अरुहच्छुक्रमर्णोऽयुक्त यद्धरितो वीतपृष्ठाः।
उद्ध्नानावमनयन्त धीरा आशृण्वतीरापो अर्वागतिष्ठन् ॥१२५॥

ऋ. ५. ४५, १०

तब विभीषण के सेवा में आ जाने पर राम ने पुल बनाकर समुद्र पार किया, उसे कहते हैं: सूर्यवंशी राम ने समुद्रजल में पर्वतों को पुल के रूप में जोड़ दिया। हनुमानादि ने समुद्र को सेवक बनाते हुए उसमें नाव के समान पर्वतों को रखा।

ततो विभीषणे दासतां गते राम: सेतुं कृत्वाऽतरदित्याह—आ सूर्य इति सूर्यो

सूर्यवंशो रामः शुक्लं शुद्धम् अर्णः समुद्रजलम् अरुहत् केनोपायेनेत्यत आह—अयुक्तेति । यत् यतः हरितः पर्वततत्त्वसामान्यात् विराडंगुलिरूपान् पर्वतान् अयुक्त सेतुरूपेण योजितवान् । वीतपृष्ठाः अनुच्चाः सुसमा इत्यर्थः ॥ ताश्च धीराः हनुमदादयः उद्धानमानम् उदकदेशेन नावमिव अनयन्त आनीतवन्तः । अगाधे जले कथमासां न मज्जनं जातम् अत आह—आशृण्वतीरिति । आशृण्वतीः-आज्ञाकारिण्यः आपः समुद्ररूपाः अर्वाक् अतिष्ठन् उपस्थानं दासवदकुर्वन् ॥ पक्षे सूर्य आत्मा शुक्रमर्णः ब्रह्म समुद्रम् हरितः इन्द्रियनद्य आपो मनः ॥ १२५ ॥

अश्मन्वती रीयते संरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरतासखायः ।
अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान् वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥१२६

ऋ. १०. ५३, ८

सेनापति ने कहा कि 'हे सखाओं ! अब हमें पाषाण से निर्मित पुल को पार करके सामने लङ्का में स्थित असुखकर राक्षसों को मारना चाहिये । संग्राम में विजय होने पर हम कृतकृत्य हो जायंगे ।'

अश्मन्वतीति—अश्मन्वती पाषाणवती तन्मयी सेतुरूपा नौ रीयते आक्रम्यते । संरभध्वम् त्वरध्वम् उत्तिष्ठत प्रतरत समुद्रं भो सखाय इति सेनापतिवाक्यम् । अत्र पुरःस्थायां लङ्कायां ये अशेवाः अस्माकमसुखाः क्रूरा असन् प्रदीप्यन्त, तान् जहाम गच्छाम हन्तुमिति शेषः । अभि आभिमुख्यं वाजान् संग्रामान् शिवान् जयप्रदान् वयम् उत्तरेम कृतकृत्या भवेमेत्यर्थः ॥ पक्षे अश्म शरीरम् अस्त्यस्यां साऽश्मन्वती गलितदेहाभिमानिनी ध्याननौरित्यर्थः । शेषं सुगमम् ॥ १२६ ॥

उरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकं जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम् ।
दासस्य चिद्वृषशिप्रस्य माया जघ्नथुर्नरा पृतनाज्येषु ॥१२७॥

ऋ. ७. ९९, ४

समुद्र को पार करके राक्षसों के साथ युद्ध में प्रवृत्त हो दोनों युवा मनुष्य देवहित के लिये संसार के महान राक्षस रूपी अन्धकार को नष्ट करके प्रकाश करेंगे । सूर्यादि के जनक दोनों युवा महोक्ष सदृश शरीर वाले रावण की माया को नष्ट कर देंगे ।

उरुमिति—समुद्रतरणानन्तरं राक्षसैः सह युद्धे प्रवृत्ते भो नराः नररूपिणो युवां यज्ञाय देवहिताय उरुं महान्तं लोकं रक्षस्तमो नाशनेन प्रकाशं चक्रथुः, उ निश्चितं यतः सूर्यादीनां जनयितारौ युवाम्, तथा दासस्य रावणस्य मायाः

नागपाशबन्धाद्याः अघ्नथुः नाशयामासथुः युवां वृषशिप्रस्य महोक्षसदृशशरीरस्य पृतनाज्येषु पक्षे यज्ञोपयोगाय माया लयविक्षेपरूपाः ॥ १२७ ॥

हरयो धूमकेतवो वातजूता उपद्यवि ।
यतन्ते वृथगग्नयः ॥१२८॥

ऋ. ८. ४३, ४

धूमकेतु के समान पूँछ वाले वानर, अन्तरिक्षचर राक्षसों को मारते हैं और अग्नि के समान नष्ट करने में समर्थ हैं।

हरय इति—हरयो वानराः, धूमवत् धूसराः केतुवदूर्ध्वीकृतानि पुच्छानि येस्ते धूमकेतवः, वातो जूतो अतिवेगात् प्रवर्तिता येस्ते वातजूताः उपद्यवि अन्तरिक्षे यतन्ते अन्तरिक्षचरान् राक्षसान् बाधितुं यत्नं कुर्वन्ति पृथक् पृथक् प्रत्येकमिति यावत् । अग्नयः अग्निवदितरनैरपेक्ष्येण सर्वं राक्षसकुलं दग्धुं क्षमा इत्यर्थः ॥ पक्षे हरय इन्द्रियाणि हार्दाकाशे यतन्ते प्रवेष्टुमिति शेषः । अग्निवन्निर्दोषाः ॥१२८॥

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश ॥१२९॥

ऋ. ६. ४७, १८

राक्षसों के अनेक रूप धारण करने पर राक्षसों के प्रत्याख्यान के लिये राम ने भी अनेक रूप धारण किये। राम माया से बहु रूप को प्राप्त होते हैं। सहस्रों वानर राम के अनुवर्ती हैं और राम ही सभी वानर रूपों में स्थित हैं।

रूपमिति—रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, यावन्ति राक्षसानां रूपाणि तावन्ति तत्प्रतिकूलानि रूपाणि दधारेत्यर्थः। तदस्य रामस्यानेकरूपत्वं प्रतिचक्षणाय विरोधिरूपान्तरप्रत्याख्यानाय । न तु राम एव विश्वरूपोऽस्ति, अतस्तेषु रूपेषु स्वावयवेष्विव अन्योऽन्यं बाध्यबाधकभावो न युक्त इत्याशंक्या—इन्द्र इति । इन्द्रो रामः पाशान्यायेन बहुवचनमवयवाभिप्रायम् । तथा च सत्त्वप्राधान्येन देवरूपः, रजःप्राधान्येन असुररूपः, तमःप्राधान्येन राक्षसरूप इति पुरुरूपो बहुरूप ईयते गम्यते । यथा सर्वरसोपादानस्यापि जलस्य स्वाभाविकं माधुर्यमिक्षुद्राक्षादिष्वतिशयेनाभिव्यज्यते । निंबुमरिचादिषु तदभिभूयौपाधिकमम्लत्वकटुत्वादिकं प्रथते तद्वदिदं द्रष्टव्यम् । अतस्तेषां बाध्यबाधकभावो युज्यत एव । हि यस्मात् अस्य इन्द्रस्य दशशता सहस्रम् अनन्ता इत्यर्थः । हरयो वानरा राममनोनुवर्तिनकायव्यूहे योगिशरीरांतरवद्युक्ताः सन्नद्धाः इत्यन्ति इति शेषः । राम एव सर्ववानरः

रूपोऽभवदित्यर्थः । तथा च श्रुतिः—"अयं वै हरयोऽयं वै दश च शतानि च सहस्राणि च बहूनि चाऽनन्तानि च" इति । पक्षे देवासुराः शमकामादयः, इन्द्र आत्मा हरय इन्द्रियवृत्तयः शेषं समानम् ॥ १२९ ॥

यः सृबिन्दमनर्शनिं पिप्रुं दासमहीशुवम् ।

वधीदुग्रो रिणन्नपः ॥१३०॥

ऋ. ८. ३२, २

बिन्दु के समान जिसके शिर रूपी अवयव गिर रहे हैं, गतिरहित, सर्प के समान फूत्कार करने वाले नीच रावण को राम ने समुद्र पर पुल बनाकर मारा।

य इति—यो रामः सृबिन्दं सरन्ति पतन्ति बिन्दुवद्वर्तुलाः शिरोरूपा अवयवा यस्य स सृबिन्दवः अदन्तत्वम् आर्षम् । अत एवानर्शनिम् अगतिकम् । ऋष गतिस्तुत्योरित्यस्य सौत्रस्य धातोरिदं रूपम् । पिप्रुमिव पिप्रुं शरीरस्थचर्मकीलवच्छगत्यां मष्याकारचिह्नरूपं दासं रावणं सर्पवत् सविषोच्छ्वासं वधीत् अवधीत् । उग्रः यतः सामुद्रीरपि रिणन् सेतुकरणेन हिंसन्, तस्य कृतानि प्रवोचतेति पूर्वमन्त्रगतेनान्वयः । सृबिन्दादयः पञ्च राक्षसा इति भाष्यम् । पक्षे सृबिन्दं निर्वीर्यम्, अनर्शनिं चित्तनिरोधादगतिकम्, पिप्रुं प्रसर्पणशीलं लोभकुम्भकर्णम्, दासं दस्यत्युपक्षिणोतीति कामरावणम्, अहीशुवम् क्रोधेन्द्रजितं च अपः देहं रिणन् प्रविलापयन् योऽवधीत्, तस्य योगिनः कृतानि ॥ १३० ॥

भद्रो भद्रया सचमान आगात् स्वसारं जारो अभ्येति पश्चात् ।

सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्रुशद्भिर्वर्णैरभि राममस्थात् ॥१३१॥

ऋ. १०. ३, ३

रामभद्र के सीता के साथ आने पर दण्डकारण्य में राम की अनुपस्थिति में सीता को हरने के लिये रावण आया था, उस समय सीता के सहचर अग्निदेव थे। अतः द्युलोक से आकर सीता के साथ राम के सामने स्थित होकर अग्निदेव ने राम की पत्नी के निर्दोषत्व को सूचित किया।

भद्र इति—भद्रः रामभद्रः भद्रया सीतया सह सचमानः सज्यमानः आगात् दण्डकारण्यमित्यर्थात्, स्वसारम् अंगुलयः स्वसारः तद्वन्तं सीतायाः पाणिं ग्रहीतुं जारो रावणः पश्चात् रामान्तराले अभ्येति आगत इति पूर्वोक्तानुवादः । ततो रावणे हृते सति "जाया गार्हपत्य०" इति श्रुतेः जाया सहचरोऽग्निः, द्युभिः

द्युलोकसाधनतया द्युशब्दवाच्यः, रामदारैः सह रामं रामस्याऽभिमुखम् अस्थात् स्थितवान्, सुप्रकेतैः शोभनचिह्नैरिति दारनिर्दोषत्वं सूचितम्. चितिष्ठन्नस्थादिति सम्बन्धः तिष्ठन्नासीदित्यर्थः ॥ उर्शाद्भुर्दीप्यमानैः वर्णैः लोहितादिवर्णज्वाला-भिरुपलक्षितः, अयं चार्थः—पुनः पत्नीमग्निरदादिति मन्त्रान्तरेऽपि दृष्टः ॥ पक्षे भद्रो बोद्धः, भद्रया श्रद्धया, जारः कामः, अग्निर्वाक् ॥ १३१ ॥

तेऽवदन्प्रथमा ब्रह्मकिल्बिषेऽकूपारः सलिलो मातरिश्वा ।
वीळुहरास्तपउग्रो मयोभूरापो देवीः प्रथमजा ऋतेन ॥१३२॥

ऋ. १०. १०९, १

अग्नि द्वारा लायी गयी सीता के विषय में समुद्र, जलाधिप, काल-चक्र के चालक निमेषादि के अधिष्ठाता देवताओं ने राम से कहा कि सीता के शरीर के चिह्नों से ज्ञात होता है कि इन्होंने उग्र धर्माचरण किया है और ये निर्दोष हैं ।

तेऽवदन्निति—ते प्रसिद्धाः देवर्षयोऽग्निना आनीतायाः सीतायाः ब्रह्मकिल्बिषे ब्रह्मचर्यरक्षणाख्ये दोषे विषये ऋतेन सत्यशपथेन अवदन्, इयं निर्दोषेति शपथपूर्वकं राममवदन्नित्यर्थः ॥ ते के अकूपारः समुद्रः, सलिलो निर्मलः सलिलाधिपो वा, वीळुहराः कालचक्रचालकाः निमेषाद्यधिष्ठात्र्यो देवताः, तपो धर्मः, उग्रः, मयः सुखं भवत्यस्मादिति मयोभूर्वातः, आपः शरीरम् तच्चिह्नानि वेत्यर्थः ॥१३२॥

सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः ।
अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदग्निर्होता हस्तगृह्यानिनाय ॥१३३॥

ऋ. १०. १०९, २

पहले राजा सोम के द्वारा बृहस्पति-पत्नी का हरण कर लिया गया और बाद में उन्हें लौटाया गया । पतिव्रत के कारण अपने दोष से रहित तारा का वरुण-मित्र ने अनुगमन किया । अग्नि देवता इसे स्वयं लेकर आये हैं, अतः यह भी तारा के समान निर्दोष है और तुम्हारे द्वारा स्वीकार करने योग्य है ।

ते किमवदन्नित्यत आह—सोम इति । प्रथमो राजा सोमः ब्रह्मजायां बृहस्पतिभार्यां पुनः हृत्वा तस्यां पुत्रमुत्पाद्य पश्चात्प्रायच्छत् दत्तवान्, अहृणीय-मानः अनिन्द्यमान इतरैः तारायां पातिव्रत्येन स्वकृतदोषाभावात् तस्याश्च अन्वर्तिता अनुगन्ता वरुणो मित्र आसीत्, अग्निर्होता एनां हस्तगृह्य हस्ते गृहीत्वा आनिनाय तस्मात्तारावदियं स्वयमदुष्टा त्वया स्वीकार्येति भावः ॥१३३॥

हस्तेनैव ग्राह्य आधिरस्या ब्रह्मजायेयमिति चेदवोचन्।
न दूताय प्रह्येतस्थ एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य ॥१३४॥

ऋ. १०. १०९, ३

जैसे तारा को सभी देवताओं ने ब्रह्मपत्नी ब्रह्मचर्यवती कहा था, उसी प्रकार इस निर्दोष सीता को ग्रहण करने से आपको दुःख नहीं होगा। क्योंकि इस जन्म में रावण रूप भगवान के पार्षद के वेग पूर्वक हरण करते समय इन्होंने उसका अनुसरण नहीं किया था। अतः इनके द्वारा राम का कुलधर्म सुरक्षित है।

हस्तेनेति—अस्याः हस्तेनैव ग्राह्यः ग्रहणं तदेव आधिः दुःखं जातं न ताराथत् सङ्गेन यतः सर्वे देवाः ब्रह्मजाया ब्रह्मचर्यवती परभार्येयमिति चाऽवोचन् इत एव अनिच्छन्तीमेनां धर्षयतस्तव नलकूबरशापनाशो भविष्यतीत्यवधेत्यर्थः॥ अतो हेतोः दूताय पार्षदाय रावणाय प्रह्ये प्रकर्षेण जिहीत इति प्रहीस्तस्मै, वेगेन गच्छते एषा न तस्थे न तमनुसृतवती, तथा तेन प्रकारेणऽनया क्षत्रियस्य रामस्य राष्ट्रोपलक्षितं कुलधर्मादिकं गुपितं रक्षितम्॥ १३४॥

देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसे ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन् ॥१३५॥

ऋ. १०. १०९, ४

बलपूर्वक हरण करने वाले के लिये मृत्युप्रद, परलोक में कष्ट देने वाली इनकी देवताओं और सप्तऋषियों ने वन्दना की।

देवा इति—एतस्यां निमित्तभूतायां भीमा मृत्युप्रदा उपनीता बलाद्गृहीता ब्राह्मणस्य ब्रह्मविदः दुर्धां नरकयातनां दधाति परमे व्योमन् परलोके॥ १३५॥

ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्।
तेन जायामन्वविन्दद्बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं१ न देवाः ॥१३६॥

ऋ. १०. १०९, ५

ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई शत्रु के लिए विष के समान सोम के द्वारा लायी गयी पत्नी को बृहस्पति ने जैसे स्वीकार किया था आप भी सीता का स्वीकार कीजिये।

ब्रह्मचारीति—ब्रह्मचारी प्राणः स्वाभाविकसंगृहीतः विषो व्याप्याः रजाः

वेविषत् व्याप्नुधन् एकं मुख्यम् अङ्गं चक्षुः तेन प्रमाणभूतेन जुह्वं न जुह्वस्थहविषत् शुद्धाम् ॥ १३६ ॥

पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या उत ।
राजानः सत्यं कृण्वाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः ॥१३७॥

ऋ. १०. १०९, ६

दशरथादि मनुष्यों ने तथा अग्नि आदि देवताओं ने सत्य शपथ करते हुए सीता को राम के लिए दिया ।

पुनरिति—देवा अग्न्यादयः, मनुष्याः दशरथादयो राजानः इन्द्रयमवरुणसोमाः सत्यं शपथं कृण्वानाः ददुः रामायेति शेषः ॥ १३७ ॥

पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वी देवैर्निकिल्बिषम् ।
ऊर्जं पृथिव्या भक्तायोरुगायमुपासते ॥१३८॥

ऋ. १०. १०९, ७

विवाह के बाद इस समय निर्दोष सीता को राम के लिए देकर देवताओं ने महान यश प्राप्त किया । पृथ्वी के राज्य को विभीषण सुग्रीव आदि में बाँटकर सुखपूर्वक श्रीराम रहने लगे ।

पुनर्दायेति—विवाहापेक्षया इदानीं पुनर्दत्त्वा देवैर्निकिल्बिषं निर्दोषं यथा स्यात्तथा कृत्वी कृत्वा दत्त्वा च उरुगायं महाकीर्त्तिम् उपासते देवर्षयः । कथंभूतम् पृथिव्याः ऊर्जमन्नाद्यं भक्ताय विभज्य विभीषणसुग्रीवलक्ष्मणादिभ्यो राज्यानि विभज्य देवब्राह्मणयज्ञार्थं च विभज्य स्थितमिति शेषः ॥ १३८ ॥

सृजः सिन्धूँरहिना जग्रसानाँ आदिदेताः प्रविविज्रे जवेन ।
मुमुक्षमाणा उत या मुमुच्रेऽधेता न रमन्ते नितिक्ताः ॥१३९॥

ऋ. १०. १११, ९

सर्परूपी रावण से ग्रसित समुद्र को पुनः अभय प्रदान किया । रावण के भय से सिन्धुपत्नी नदियाँ शीघ्र चलती थीं । रावण के कारागार से मुक्त होकर ये देवता भी शोक से रहित होकर भली प्रकार स्थित हो गये हैं ।

तत्र प्रथमं प्रकृतेरेव कर्मभिरुपासकाः स्तुवन्ति—सृज इति । सिन्धून् समुद्रान् सप्तचतुरो वा अहिना रावणस्य कालसर्पेण जग्रसानान् ग्रस्तान् सृज असृजः अभयदानेन पुनः सृष्टवानसि, तथा—आदिद् अस्मादेव रावणात् एताः सिन्धुभार्याः

नद्यः प्रविविक्त्रे प्रकर्षेण सीताश्चलितवत्यः जवेन वेगेन, तथा-मुमुक्षमाणा रावण-कारागारादात्मनो मोक्षमिच्छन्त्यः मुमुच्रे मुक्ताः, अथ अन्यदा एता देवताः न रमन्ते इति एव यतः निवित्क्ताः नितरां कटुकाः शोकोपहतरसाः इदानीं सम्यगवर्तन्त इत्यर्थः ॥ पक्षे सिंधून् मैत्र्यादीन्, यमनियमप्राणायामप्रत्याहार-सम्यमतर्कान् वा पूर्वोक्तान्, एताः शमदमादयः, मुमुक्षमाणाः जीवा अहिना मोहेन ॥ १३९ ॥

सध्रीचीः सिन्धुमुशतीरिवायन्त्सनाज्जार आरितः पूर्भिदासाम् ।
अस्तमाने पार्थिवा वसून्यस्मे जग्मुः सूनृता इन्द्र पूर्वीः ॥१४०॥

ऋ. १०. १११, १०

समुद्र के समान अपार राम के पास नदी के समान सीता आयीं। सीता की इच्छा करने वाला जार रावण मारा गया। हे राम! तुम्हारे गृह अयोध्या में सभी सम्पत्तियाँ निवास करती हैं। आपको हम लोग हृदयाकाश में देखें।

सीता रामं प्रत्युपगतेत्यन्यापदेशेनाह—सध्रीचीरिति। सध्रीचीः सहधर्म-चारिण्यः। पूजार्थं बहुत्वम्। सिन्धुं समुद्रवदपारं रामम् उशतीरिव कामयमाना नद्य इव आयन् आगताः, आसां जारो रावणः सनत् सर्वदा पूर्भित शरीरशोषणो यः सः आरितो हिंसितः॥ पक्षे समूले कामे हते श्रद्धादयो ब्रह्माग्निमुखं प्रापुरित्यर्थः॥ हे इन्द्र हे राम ते तव अस्तं गृहम् अयोध्यां हार्दाकाशं वा पार्थिवानि वसूनि सर्वे कामा आजग्मुः अस्मे अस्मांश्च त्वद्दर्शिनः पूर्वीः सूनृताः वेदस्य वाचः "एष सर्वेश्वरः" इत्यादयः "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादयो वा आजग्मुः। ब्रह्मभावेन बहिर्भवन्तं हार्दाकाशे चाऽस्मानं त्वां पश्याम इत्यर्थः ॥ १४० ॥

सचन्त यदुषसः सूर्येण चित्रामस्य केतवो रामविन्दन् ।
आयन्नक्षत्रं ददृशे दिवो न पुनर्यतो न किरद्धा नुवेद ॥१४१॥

ऋ. १०. १११, ७

जब सीतारूपी उषा श्रीराम रूपी सूर्य से मिलीं तब उन राम रूपी सूर्य की रश्मियों ने विभिन्न रूप धारण कर लिया। और कोई भी व्यक्ति उन राम के दर्शन न कर सका।

ईदृशज्ञाने हेतुमुपासनामाह—सचन्त इति। केतवो ज्ञानवन्तोऽस्य रामस्य।

रांसं पदम् ऋचः सामानि यजूंषि—"सा हि श्रीरमृता सताम्" इति श्रुतां त्रयीं तत्सारभूतप्रणवरूपां शब्दतोऽर्थतश्चाविदन्, यस्त्वत्र शब्दमय्यां सम्पदि उकारो नास्तीति मन्यते, तं प्रत्येवं वदेत्, यत्र यतः उषसः उषसम् उपोवदल्पप्रकाशं विराजम् अकाररूपं सूर्येण पूर्णप्रकाशेन हिरण्यगर्भेण उकाररूपेण सचन्त ऐक्य-मनयन्. कार्यत्वसामान्यादकारमध्ये एव उकारस्यांऽतर्भावो बोध्यः ॥ एवमपि अमित्येवापेक्षितं न तु रामित्यत आहचित्रामिति । चित्रभानुत्वाच्चित्रो अग्निः-रेफःसोऽस्यामस्तीति चित्रा सस्वरशब्दवती ततः सवर्णदीर्घे रामित्यर्थः ॥ चित्रशब्दान्मत्वर्थीये अर्शआद्यचि टाप् । एवं च रेफार्थे नाग्निनाचिदाभासेन सहितानि समष्टिस्थूलसूक्ष्मकारणानि रामित्यनेन दर्शितानि, अर्द्धमात्रा तु प्रणववदत्राप्यन्तरस्ति, यां रां केतवोऽविदन् सा पुनर्ददृशे रामिति रेफाकारम-काराः पुनर्दृश्यन्त इत्यर्थः तत्र दृष्टांता—दिवो नेति । नेत्युपमार्थः । दिवः स्वप्नाः स्वल्पं प्राप्य यथा जाग्रद्दृष्टमेवार्थजातं पुनस्तत्सदृशं दृश्यते, तद्वत्समष्टित्रयाचकात् रांपदात् क्रमेण सदृशव्यष्टिस्थूलसूक्ष्मकारणवाची रामिति पदं पुनःपठेदित्यर्थः ॥ अस्य विशेषणम्-आयन्नक्षत्रमिति । आ इति स्वरूपं य इवाचरतीति यत् आचार-क्विबन्तात् यत् प्रातिपदिकात् कर्तरि क्विबिति तस्मिंस्तुक् । तेन य इति स्वरूपं सिद्धम् इदं वर्णद्वयं द्वितीयेन रामित्यनेन सह पठितं चेत् रामायेति चतुर्थ्यन्तं नाम भवति, नक्षत्रपदेन मुख्यत्वाच्चन्द्र. तेनाऽस्य कारणम्—"हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमाः" इति श्रुतिप्रसिद्धं हृदयं गृह्यते । यथा—"ता अन्नमसृजन्त" इत्यन्नशब्देन पृथिवी तद्वत् तेनागमप्रसिद्धो हृदयशब्दार्थो नमः शब्द उद्धृतो भवति । एषां सर्वेषां वर्णानां सङ्कलनेन रां रामाय नमःइति उद्धृतो वेदितव्यः । एतत्फलमाह—यतो नकिरद्धानुवेदेति । यत इति तस्य यतमानस्य यतेः नकिः न किरति इतस्ततो विक्षिप्यत इति नकिः अविक्षिप्तं मनः अद्धा साक्षात् नु निश्चितं देव जानाति एनं मन्त्रं जपन्नेतदर्थं मनसा साक्षात् करोतीत्यर्थः ॥ "मनसैवेद-माप्तव्यम्" इति श्रुते. मन्त्रार्थस्तु रां रां चासौ आश्चेति रां रामः तस्मै रामाय नमस्करोमि प्रह्वो भवाम्यहम्—"तत्राकारे वै सर्वा वाग्"इति श्रुतेः । अर्धमात्रा-गर्भितौ साभासौ व्यष्टिसमष्टिकौ अकारार्थः ईप्सिततमत्वं चतुर्थ्यर्थः । तच्च तत्रान्वितमपि नान्तः प्रज्ञमित्यादि—"स आत्मा स विज्ञेयः" इत्यन्तश्रुत्या इतरेषां द्वादशानां निरस्तत्वेनार्धमात्रार्थे त्रयोदश एव पर्यवस्यति । तेन नम्यत्रयं नन्तृत्रयं नतिश्चैतेषां प्रकाशार्थं यदीप्सिततममर्धमात्राख्यं वस्त्वहमस्मीति तत्र—"नान्तः-प्रज्ञाम्" इति सौत्रस्य चिदाभासस्य निरासः—"न बहिःप्रज्ञम्" इति वैराजस्य नोभयतः प्रज्ञमित्युपहितानुपहितोभयस्वरूपदर्शिन ऐश्वरस्य न प्रज्ञमिति

तत्सदृशत्वेऽपि तदन्यस्य तैजसीयस्य—"न प्रज्ञानघनम्" इति विशेषविज्ञानहीनस्य प्राज्ञीयस्य, तथा—"अदृष्टम्" इति दृष्टसजातीयस्य सौत्रस्योपाधेः "अव्यवहार्यम्" इति व्यवहारार्हस्य वैजोपाधेः "अग्राह्यम्" इति योगिग्राह्यस्यैश्वरोपाधेः, "अलक्षणम्" इति विशेषलक्षणवतो वैश्वोपाधेः, "अचिन्त्यम्" इति चिन्तानिर्वर्ह्यस्य तैजसोपाधेः, "अव्यपदेश्यम्" इति "न किंचिदवेदिषम्" इति व्यपदेशार्हस्य प्राज्ञोपाधेः, "ऐकात्म्यप्रत्ययसाह्यम्" इति षण्णामाभासानां प्रपञ्चोपशममिति षण्णामुपाधीनां अद्वैतमिति सर्वेषां निरासः। शिवमित्यर्थमात्रानिन्दमात्रस्य परिशेष इति विभागो ज्ञेयः॥ १४१॥

तव श्रिये मरुतो मर्जयन्त रुद्र यत्ते जनिम चारु चित्रम्।

पदं यद्विष्णोरुपमं निधायि तेन पासि गुह्यं नाम गोनाम्॥१४२॥

'हे रुद्र (हनुमान)! तुम्हारे द्वारा अधिगत रामविद्या रूपी सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए देवता भी प्रयत्न करते हैं। तप ध्यानादि के द्वारा अपने को शुद्ध करते हैं। जिससे तुम्हारा जन्म सफल है, वह राम-पद विष्णु रूप है। उस रूप की हृदय में हम गुह्य उपासना करते हैं।'

एतस्य मुख्यमुपासकं रुद्रं स्तुवन्ति—तव श्रिय इति। हे रुद्र हे हनुमन् तव श्रिये त्वदधिगतसम्पत्प्राप्त्यर्थं रामविद्यावाप्त्यर्थं मरुतो देवा मर्जयन्त शोधयन्ति, तपोध्यानादिनात्मानं यत् यतस्ते तव जनिम जन्म चारु रम्यं यतस्त्वया चित्रं पद रेफाख्येणाग्निना युक्तं "चित्रामस्य केतवो रामविदन्" इत्युदाहृतमन्त्रे प्रसिद्धं रामित्येवंरूपं विष्णोरुपमं विष्णुवाचकस्य पदस्य समीपे दृश्यमानं यथा स्यात्तथा निधायि न्यधायि निहितम् अत्र "गं गणपतये नमः, दुं दुर्गायै नमः" इति मन्त्रशास्त्रमर्यादया रामित्यस्य समीपे सपूर्वकमेव विष्णुवाचिपदं निधेयम्—तच्च राघवादिपदेभ्यः शीघ्रतरं रामपदमेव वर्णसाम्याधिक्यादुपस्थितं भवति, तेन रामपदेन सह नाम नमन्त्यनेनेति नाम नतिवाचिपदम्। उपासिनामविशिनष्टि गोनां गुह्यमिति। गोनामिन्द्रियाणां गूहनस्थानं हृदयमित्यर्थः। तेन हृदयशब्दितं नमः पदमुद्धृतं भवति, तद्योगाच्च रामपदादपि चतुर्थी भवति, तेन "रां रामाय नमः" इति त्र्यक्षराण्युद्धृतानि भवन्ति। यतस्त्वया चित्रं पदं विष्णोरुपमं निधायि, यतश्च तेन सह गोनां गुह्यनाम पासि, अतस्ते जनिम चार्वित्यन्वयः॥ १४२॥

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।

अहं कुत्सामार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥१४३॥

ऋ. ४. २६. १

मनु और सूर्य जिस वंश के प्रवर्तक हैं, उस वंश में जन्म लेने वाला मैं ही मनु और सूर्य हूं, जिस अवतार के लिए दशरथ ने ऋषि को दान से सन्तुष्ट किया, वह दीर्घदर्शी कार्यज्ञ ऋषि मैं हूं, मैं ही आर्जुनेय को आयुष्य प्रदान करने वाला हूं। भृगु ने जो 'तुम्हारी पत्नी का हरण अन्य कोई करेगा' शाप दिया था वह भी मैं ही हूं। मेरे शत्रुओं की वृद्धि का कारण जो शुक्र है वह भी मैं हूं इसीलिए उपासक को सभी में राम का दर्शन करना चाहिए।

एवं राममुपासीनो रामतादात्म्याभिमानात्सार्वात्म्यं प्राप्तो वामदेवापरनामा रुद्रो रामविशेषणैरेवात्मानं स्तौतीत्याह बृहदारण्यकश्रुतिः, तद्धैतत्पश्यनृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे–अहं मनुरभवं सूर्यश्चेतीति। यस्मिन्वंशेऽहमुत्पन्नस्तत्प्रवर्तकौ मनुसूर्यावहमेवाभवम्, यच्चमदवतारनिमित्तं दशरथेन तोषित कक्षीवान् ऋषिर्विप्रो दीर्घदर्शी भाविकार्यज्ञः सोऽप्यहमेवास्मि, अहम् आर्जुनेयपुत्रं कुत्सं कुत्सनामानं पृञ्जे अर्जुन्या पुत्र पूर्वंबालत्वादल्पवयमेव मृतं सन्तं नितरां मर्जितवानस्मि दीर्घायुष्प्रदानेन बहुतरतपनपरिस्यंदसन्सर्गातिशिथिलतरत्वचं कृतवानस्मीत्यर्थः। तथा कवेः पिता भृगुः "अहं विराट्" इतिवत्कारणे कार्योपचारः, तव भार्याम् अन्यो हरिष्यतीति मह्यं शापं ददद्भृगुः सोऽप्यहमेवेत्यर्थः। तथा नु उशना कवेः पुत्रः शुक्रो मच्छत्रूणां तेजोवृद्धिकरः सोऽप्यहमेव। अतो मा मां सर्वात्मानं श्रीरामभद्रं पश्यत भोः साधका इति शेष ॥ १४३॥

दूरं किल प्रथमाजग्मुरासामिन्द्रस्य याः प्रसवे सस्रुरापः।
क्व स्विदग्रं क्व बुध्न आसामापो मध्यं क्व वो नूनमन्तः ॥१४४

ऋ. १०. १११, ८

पहले सनकादि थे, जल दूर थे। जल से सृष्टि कर्म के लिए ब्रह्माण्ड की रचना की। सकारण पिण्ड ब्रह्माण्ड को छोड़कर शुद्ध ब्रह्म को प्राप्त हुआ। अन्य अवसान को प्राप्त हो गये। तुम लोगों का भी अन्त निश्चित है, उसको मैं जानता हूं।

एवं जीवन्मुक्तस्य सार्वात्म्यमुक्त्वा विदेहमुक्तस्य कैवल्यमाह–दूरं किलेति। प्रथमाः पूर्वं सनकाद्याः आसाम् आपो अद्भ्यः सकाशाद् दूरं जग्मुः आप इन्द्रस्यात्मनः प्रसवे सृष्टिकर्मणि प्रसस्रुः ब्रह्माण्डरूपेण प्रसृताः, सकारणे पिण्डब्रह्माण्डे परित्यज्य शुद्धं ब्रह्म प्राप्ता इत्यर्थः। अन्ये तु आसामपाम् अग्रम् अवसानप्रत्यासन्नो भागः क्वस्वित् तथा बुध्नो मूलं क्व मध्यं च क्व भो आपः वः युष्माकम् अन्तश्च नूनं निश्चितं क्व स्विदस्ति, तं जानीम इति आमन्त्रतीत्यर्थः ॥ १४४॥

प्रवः पांतं रघुमन्यवोंधो यज्ञं रुद्राय मीलहुषे भरध्वम ।
दिवो अस्तोष्यसुरस्य वीरैरिषुध्येव मरुतो रोदस्योः ॥१४५॥
ऋ. १. १२२, १

'हे रामव्रती ! विद्यामृतवर्षी, रुद्र के लिए यज्ञ करते हुए तुम लोगों को देह और मन की रक्षा करनी चाहिए। यह मानव शरीर देवों के द्वारा तथा सनकादि के द्वारा स्तुत्य है। मनुष्यों के प्राण शरीर से बाण के समान निकल जाते हैं। अतः इस चञ्चल जीवन के लिये शीघ्र तारक गति की रुद्र से प्रार्थना करते हैं।'

एवं सफलोपासनां समाप्य तत्प्राप्तिकामैस्तत्सम्प्रदायप्रवर्तको रुद्रोप्याराधनीय इत्याह–प्रवः पान्तमिति। हे रघुमन्यवः रामव्रतवो रामोपास्तिकामा इति यावत्, मीढ्षे विद्यामृतवर्षिणे रुद्राय यज्ञं भरध्वम् कीदृशं यज्ञं वः युष्माकम्, अन्धः अन्नं तद्विकारं देहं मनश्च पान्तं रक्षन्तम् "अन्नमयं हि सोम्य मनः" इति देहवन्मनसोप्यत्र विकारत्वं श्रुतम्। कीदृशमन्धः यत् दिवः स्वर्गापेक्षयापि अस्तोषि स्तुतं वेदे "ता अग्नुषग्मुकृतं वत" इति मानुषदेहस्य देवताभिरपि पुण्यत्वेन स्तुतत्वात्। असुरस्य सुरां विनाऽप्यमरस्य ब्रह्मणो वीरैः पुत्रैः सनकादिभिरस्तोषीति सम्बन्धः। मरुतां बाणवदाशुगाः प्राणाःरोदस्योर्भुवि दिवि च वसतां पुन्सां नृणां देवानां च इषुधौ निषंगे इव देहे अर्द्धनिष्क्रान्ताः सन्ति, इषुध्येति–सुप आत्। चञ्चलत्वाज्जीवितस्य शीघ्रं तारकप्राप्तरुद्रं यजेतेति भावः ॥ १४५ ॥

हिरण्यकर्णंमणिग्रीवमर्णस्ते नो विश्वे वरिवस्यन्तु देवाः ।
अर्यो गिरः सद्य आजग्मुषीरुस्त्राश्चाकन्तूभयेष्वस्मे ॥१४६॥
ऋ. १. १२२, १४

जिस मणि रूपी मन्त्र के कान में पड़ते ही ग्रीवास्थित प्राण ऊपर आ जाता है उस मन्त्रजल की हमारी सभी इन्द्रियाँ सेवा करें। ईश्वर के गिरिधारकरूप तथा मन्त्रसिद्धिरूप तपजपादि से ही हमारे पास आयें और सविकल्पक और निर्विकल्पक भावों में सिद्धियों द्वारा हमें आन्दित करें।

अनिज्यमानोपि रुद्रो देशविशेषे कालविशेषे च कारुणिकत्वात्तारकं जनमात्रस्योपदिशतीति अत्र हि जन्तोः प्राणेषु प्रयाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृती भूत्वा मोक्षी भवतीति अविमुक्तं प्रकृत्य जाबालाम्नातमर्थम्

ऋषिराह—हिरण्यकर्णमिति । हरणात् हिरण्यं तारकं महावाक्यं कर्णे पतति, येन तत् हिरण्यकर्णं मणिः आत्मतत्त्वं ग्रीवास्थेन उत्क्रममाणप्राणेन लभ्यते, यत्र तत् मणिग्रीवम्, अर्णो जलं नोऽस्माकं विश्वे देवाः सर्वाणीन्द्रियाणि वरिवस्यन्तु सेवन्ताम् । अत्राहोरात्रपदयोः पूर्वापरवर्णलोपात् होरापदमिव हिरण्यकर्णमणिग्रीवपदयोरपि पूर्वापरावयवलोपेन मणिकर्णपदं निष्पन्नं स्त्रीत्वं लोकात्, तेन मणिकर्णिका रूपमर्णोऽत्र ग्राह्यम् । पदद्वयस्यैकस्वर्यपाठेनाङ्गाङ्गिभावावगमात् । तत्त्वज्ञानस्य वाक्यकारणकत्वेन तदर्थयोरपि तथात्वावगमाच्च अतोऽत्रार्णः शब्देन तदभिमानिनीं देवतामालक्ष्य तस्यां च विग्रहवत्त्वं प्रकल्प्य तत्रालङ्कारवत्त्वप्रत्यर्थी पदद्वयमिति विलष्टकल्पना नोत्तिष्ठति, यौरवादैकस्वर्यपाठविरोधाच्च । अत्र हि वैदिकाः प्रथमं पदमाद्युदात्तं द्वितीयं सर्वानुदात्तं च पठन्तीति प्रसिद्धम्, न च तस्य सर्वानुदात्तत्वे पूर्वावयवत्वमन्तरेणान्यन्निमित्तमस्तीति स्वरशास्त्रविद एवं विदांकुर्वन्तु । अर्णसः सेवायाः फलमाह—अयं इति । अयं ईश्वरो महारुद्रः उदाहृते सूक्ताद्यमन्त्रे दृष्टः । गिरिधारकरूपाः उस्राः मन्त्रसिद्धिरूपाः कामधेनवश्च सद्यः तपोजपादिकं विनैव अकस्मादाजग्मुषीः आगमनशीलाः सर्वे अस्मे अस्मान् व्याकन्तु तर्पयन्तु, उभयेषु सविकल्पकनिर्विकल्पकभावेषु सिद्धिभिः स्वरूपानन्देन च प्रीणयन्तु । अत्र समाधिव्युत्थानव्यवस्थयपेक्षया बहुत्वम् । आ इत्यस्यावृत्त्या सद्य आजग्मुषीरित्यस्य पदद्वयस्याप्यावृत्तिः । अनाराधितापि रुद्रो मणिकर्णिकायामन्तकाले तारकब्रह्मोपादिशति, किं पुनराराधित इति तदुभयं तारकार्थिना न मोक्तव्यमित्यर्थः । यत्तु "वर्णोऽरणी यमपत्यम्" इति व्याख्यात तदर्णः शब्दस्य उदकनामसु पाठादपत्यनामस्वपाठाच्च श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गादुपेक्ष्यम् ॥१४६॥

न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरामन्युर्विभीदको अचित्तिः ।
अस्ति ज्यायान्कनीयस उ पारे स्वप्नश्च नेदनृतस्य प्रयोता ॥१४७

ऋ. ७. ८६, ६

'हे वरुण हे दक्ष ! हनुमानादि के समुद्र-लङ्घन की सामर्थ्य तुम्हारी ही थी। आप हम लोगों के प्राणों के समीप है। मद, क्रोध उन्मादादि ग्रसित पुरुष अशक्त होने पर भी शक्ति-साध्य कार्य करता है इसी प्रकार हम लोग आपके सामर्थ्य से कार्य करते हैं। स्वप्न के समान सुख और दुःख प्रयोजक और वियोजक होते हैं।'

अतः परं विग्रहधर्मैरेव स्तुवन्ति न सस्व इति । हे वरुण हे वरणीयसः दक्षः तत्सामर्थ्यं समुद्रोल्लंघनादि हनुमदादीनां स्वः स्वकीयं न भवति, किं तु तवैव सा धृतिः आधिष्ठातृत्वम् । यतो ज्यायान् भवान् ईश्वरः कनीयसोऽस्मदादेर्जीवस्य

उ पारे समीपेस्ति अतस्त्वदीयेनैव सामर्थ्येन समुद्रसरणादिकमेते कारिताः। अन्य-सामर्थ्येनान्यः करोतीत्यत्र दृष्टान्तः—सुरेति। सुरा मद्यम्, मन्युः क्रोधः, विभीदकः विभीतकः, तत्स्थकलिः अचित्तिः, भूतपित्ताद्यावेशजन्य उन्मादः एतैराविष्टः पुरुषोऽशक्तोपि शक्तसाध्यं कर्म करोति तद्वदयमपीत्यर्थः॥ यायां संविशिनष्टि स्वप्नश्च नेति। स्वप्न इव इत् अनृतस्येव भयसुखादेस्तद्धेतोश्च प्रयोता संयोजयिता वियोजयिता च। 'यु मिश्रणामिश्रणयोः, इत्यस्य रूपम्। यः स्वप्नवत्कृत्स्नं प्रपञ्चं सृजति संहरति च तस्य अस्मदुपबृंहणं कियदिति भावः॥ १४७॥

त्वं ह त्यदिन्द्र कुत्समावः शुश्रूषमाणस्तन्वा समर्ये।

दासं यच्छुष्णं कुयवं न्यस्मा अरन्धय आर्जुनेयाय शिक्षन्॥१४८

ऋ. ७. १९, २

'हे राम! तुम परोक्ष रूप से ऋषि की रक्षा करते हो और काल के साथ स्पर्धा करते हो। मृत पुत्र को लेकर द्वार पर आगे शोक करते हुए विप्र के वाक्य को सुनकर यम को जीतकर उसके पुत्र को जीवित करते हो। शूद्र के अयोग्य होने के कारण उसको मुनिधर्म से हटाकर उसको स्वधर्म सेवा में लगाते हो। अर्जुन-पुत्र को जीवित करते हो, धर्म की शिक्षा देते हो।'

लोकस्थोप्यलौकिकं कर्म करोषीत्याह—त्वं हेति। हे इन्द्र त्वं ह प्रसिद्धं त्यत् इतरेषां परोक्षं कुत्सम् ऋषिम् आवः रक्षितवानसि कदा समर्ये कालेन सह स्पर्द्धायां सत्याम्। तन्वा मृतस्य पुत्रस्य शरीरेण सहागतस्य पितुर्वाक्यं शुश्रूषमाणः मनसि कुर्वन् मृतं पुत्रमानीय द्वारि शोचतो विप्रस्य वाक्यं श्रुत्वा यममपि जित्वा तत्पुत्र-मानीतवानसीत्यर्थः। कथं मृतमपि रक्षितवानित्यत आह—दासमिति। दासं शूद्रं शूद्रस्यायोग्येन तपसा शुष्यन्तं कुयवं कुत्सितेन स्वस्य दोषहेतुना मुनिधर्मेण युज्यसे स्वधर्मेण च सेवया वियुज्यत इति कुयवम्, अस्मै आर्जुनेयाय अर्जुन्याः पुत्राय कुत्साय तज्जीवनार्थं न्यरन्धयः नितरां हिंसितवानसि। शिक्षन् शिक्षयन् धर्म-मर्यादाम्॥ १४८॥

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।

विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहाऽमीवचातनः॥ १४९॥

ऋ. १०. ९७, ६

हनुमान के साथ राम जाम्बवान की स्तुति करते है: जिस प्रकार राजा सभा में आता है उसी प्रकार द्रोणाचल से औषधि लाने वाले

उ पारे समीपेऽस्ति अतस्त्वदीयेनैव सामर्थ्येन समुद्रतरणादिकमेते का
सामर्थ्येनान्यः करोतीत्यत्र दृष्टान्तः—सुरेति । सुरा मद्यम्, मन्युः क्रो
विभीतकः, तत्स्थकलिः अचित्तिः, भूतपित्ताद्यावेशजन्य उन्माद
पुरुषोऽशक्तोऽपि शक्तसाध्यं कर्म करोति तद्वदयमपीत्यर्थः ॥ बायां
स्वप्नश्च नेति । स्वप्न इव इत् अनृतस्येव भयतुलादेस्तद्धेतोश्च प्रयोत
वियोजयिता च । 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' इत्यस्य रूपम् । यः
प्रपञ्चं सृजति संहरति च तस्य अस्मदुपबृंहणं कियदिति भावः ॥ १४

त्वं ह त्यदिन्द्र कुत्समावः शुश्रूषमाणस्तन्वा सम

दासं यच्छुष्णं कुयवं न्यस्मा अरन्धय आर्जुनेयाय शिक्ष

ऋ. ७.

'हे राम ! तुम परोक्ष रूप से ऋषि की रक्षा करते हो
साथ स्पर्धा करते हो । मृत पुत्र को लेकर द्वार पर आये
हुए विप्र के वाक्य को सुनकर यम को जीतकर उसके पुत्र
करते हो । शूद्र के अयोग्य होने के कारण उसको मुनिधर्म
उसको स्वधर्म सेवा में लगाते हो । अर्जुन-पुत्र को जीवित क
की शिक्षा देते हो ।'

लोकस्थोऽप्यलौकिकं कर्म करोपीत्याह—त्वं हेति । हे इन्द्र त्वं ह
इतरेषां परोक्षं कुत्सद् ऋषिम् आवः रक्षितवानसि कदा समयं कालेन
सत्याम् । तन्वा मृतस्य पुत्रस्य शरीरेण सहागतस्य पितुर्वाक्यं शुश्रू
कुर्वन् मृतं पुत्रमानीय द्वारि शोचतो विप्रस्य वाक्यं श्रुत्वा यममपि
मानीतवानसीत्यर्थः । कथं मृतमपि रक्षितवानित्यत आह—दासमि
शूद्रस्यायोग्येन तपसा शुष्यन्तं कुयवं कुत्सितेन स्वस्य दोषहेतुना मुनि
स्वधर्मेण च सेवया वियुज्यत इति कुयवम्, अस्मै आर्जुनेयाय अ
कुत्साय तज्जीवनार्थं न्यरन्धयः नितरां हिंसितवानसि । शिक्षन्
मर्यादाम् ॥ १४८ ॥

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिता

विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहाऽमीवचातनः ॥ १४

ऋ. १०

हनुमान के साथ राम जाम्बवान की स्तुति करते है :
राजा सभा में आता है उसी प्रकार द्रोणाचल से औष

हनुमान तथा औषधि के प्रयोग द्वारा रघु आदि को जीवन प्रदान करने वाले जाम्बवान से दुष्टों का वध करने की प्रार्थना करते हैं।

एवं रामभद्रं स्तुत्वा हनुमता सह जाम्बवन्तं स्तुवन्ति—यत्रौषधीरिति। यत्र हनुमति जाम्बवति वा द्रोणाचलस्यानेतरि सर्वौषधीस्वरूपगुणाभिज्ञे वा निमित्तभूते सति ओषधीः सर्वाः ओषधयः सशल्ययो राघवयोर्विशल्यकरणार्थाः समग्मत सङ्गताः। तत्र दृष्टान्तः—यथा राजानः समितौ सभायां संगच्छन्ते, तद्वत् समिताविव स विप्रो व्यापकः सर्वौषधीनामानेता प्रयोक्ता वा भिषक् रोगक्षयकृदित्युच्यते, स एव रक्षोहा रक्षोहर्तृणां रामादीनां जीवनप्रदानात् अमीवचातनः अमीवान् दुष्टान् हन्तु चातयते प्रार्थयते स तथा दुष्टवधकाम इत्यर्थः॥ १४९॥

स्रक्वे द्रप्सस्य धमतः समस्वरन्नृतस्य योना समरन्त नाभयः।
त्रीन्स मूर्ध्नो असुरश्चक्र आरभे सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन् १५०

ऋ. ९. ७३, १

अम्ल के कारण बुद्बुद् के ऊपर आने के समान रावण संसार को दुःखी करता है। नाभि में अमृत वाले उस असुर ने अपने मस्तकों को काट कर यज्ञ में चढ़ा दिया, अतः उसके वध के लिए महान प्रयत्न करना चाहिए। धर्म की नौका के समान सुन्दर कर्म वाले राम समुद्र के पार उतरे।

अथ सीतादीन्स्तुवन्ति—स्रक्वे इत्यादिना नवर्चेन सूक्तेन। आङ्गिरसः पवित्र ऋषिः पवमानसोमोदेवता सोम इति विष्णोरेव नाम—"हविरातिथ्यं निरुप्यते सोमे राजन्यागते" इत्युपक्रम्य "वैष्णवो भवति विष्णुर्वै यज्ञस्तस्मा एतद्धविरातिथ्यं निरुप्यते" इत्युपसंहरन् यथा दध्यादेर्द्रप्सः अत्यम्लतया बुद्बुदाकारेण उपर्यागतो भागः तद्वद्दुद्गीतस्य द्रप्सस्य रावणाधमतो लोकान् तापयतः कर्मणि षष्ठी। तं प्रति स्रक्वः सरणम् अभिसारः तस्मिन्कर्त्तव्ये सति समस्वरन् सम्यग्जयशब्दमकुर्वन् योद्धारः। ततश्च ऋतस्य योना योनौ ऋतस्य योनिरिति पदं जलनामसु प्रविष्टम् भाष्ये तु यज्ञस्योत्पत्तिस्थाने इति व्याख्यातम्। नाभयः जलस्य गर्भं गताः "अद्भ्यः पृथिवी" इति श्रुतेर्जलादुत्पन्ना वा भूमयः कपिना दृष्टरूपाः समरन्त सम्यग् मज्जनं विना अगच्छन्त। यस्य स्रक्वं नाभयः जलेऽतरन्त, सः असुरो रावणाख्यः त्रीन् "कपिञ्जलानालभेत" इतिवत् बहुत्वम्। प्रातिपदिकार्थस्य त्रित्वस्य त्रित्वे पर्यवस्यति, तेन नव संख्यान् मूर्ध्नो मस्तकान् चक्रे छिन्नवान्, कदा आरभे आरभ्यत् इत्यारम्भो यज्ञस्तस्मिन्। रावणेन हि नव शिरांसि वह्नौ हुतानीत्युपाख्यायते अतस्तस्य वधार्थं महानेव यत्न आस्थेय इत्यर्थः। बले

दृषत्सङ्घस्य किं फलमत आह—सत्यस्येति। सत्यस्य धर्मस्य सम्बन्धिन्या नाव इव नावः तारकाः शिलाः सुकृतं शोभनकर्माणं रामं ससहायम् अपीपरन् अपारयन् समुद्रस्य पारं प्रापितवत्य इत्यर्थः। यथा—सत्यस्य बलेनाग्नेये दिव्ये तत्परशुग्रहणादौ वह्निः शीततां याति, एवं सीतायाः पातिव्रत्यधर्ममाहात्म्यात् तद्बन्धच्छेदार्थं शिला अपि समुद्रे तीर्णा इत्यर्थः। "धर्मनावः शिला" इति ब्रह्मवैवर्ते सप्तमाध्याये तृतीयांशे दृष्टम्—"इत्युक्ता सा शिला विप्रैः पातिता तज्जले शुभे। चक्रुः शिवकथां पुण्यां काशिवासिजनैर्वृताः॥ क्षणान्तरे गौस्तृषिता सवत्सा समुपागमत्॥ तयाऽपीतं जलं तृषा साभवच्छृणु पार्वति॥ सा शिला मुनिमुख्यानां प्रभावाज्जलमध्यतः॥ जलोपर्यभवच्छीघ्रं पश्यतां सर्वदेहिनाम्॥ यथा तुम्बीफलं शुष्कं गच्छतीतस्ततो जले॥ तथा लघुतरा जाता तस्या धर्मस्य गौरवम्"॥ इति॥ १५०॥

सम्यक्सम्यञ्चो महिषो अहेषत सिंधोरूर्मावधि वेना अवीवियन्।
मधोर्धाराभिर्जनयन्तो अर्कमित्प्रियामिन्द्रस्यतन्वमवीवृधन्॥१५१

ऋ. ९. ७३, २

सुन्दर गति वाले, बुद्धिशाली, महान वानरों ने समुद्र के ऊपर पुल बना दिया। रोहितादि अमृत की पञ्च धाराओं से वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव तथा मरुत ये पाँचगण अर्क के समान स्वयं उपासना के जल से उन्हें आविष्कृत करते हैं। राम की प्रिय पत्नी सीता को रावण की कैद से छुड़ाकर जय शब्द से आह्लादित करते हैं।

वस्वादिरूपेण सर्वान्वानरान्स्तुवन्ति—सम्यगिति सम्यञ्चः सुगतयः सम्यक् चारु अहेषत अवर्द्धन्त, महिषा महान्तो वानराः त एव सिन्धोः समुद्रस्य ऊर्मौ एकदेशे शतयोजनविस्तीर्णे वेनाः शोभमानाः अधि उपरि अवीवियन् क्षिप्तवन्तः, सत्यस्य नावः शिलारूपा इत्यनुकृष्यते, मधोः आदित्यस्य—"असौ वा आदित्यो-यदेतन्मधु" इतिच्छान्दोग्यश्रुतेः। धाराभिः रोहिताद्यमृतपञ्चकधाराभिः वसवो रुद्रा आदित्या विश्वे देवा मरुत इति पञ्च गणाः अर्कम् अर्कतुल्यमात्मानमेव जनयन्तः उपासनाबलेनाविष्कुर्वन्तः, इत् एव इन्द्रस्य रामस्य प्रियां तन्वं तनुं सीताम् अवीवृधन् वर्द्धितवन्तः, रावणागारे निरुद्धां सीतां जयशब्दैराह्लादयन्नित्यर्थः॥ १५१॥

पवित्रवन्तः परिवाचमासते पितैषां प्रत्नो अभिरक्षति व्रतम्।

महः समुद्रं वरुणस्तिरोदधे धीरा इच्छेकुर्धरुणेष्वारभम् ॥१५२॥

ऋ. ९. ७३, ३

जैसे अध्वर्यु वाणी के अर्थ के अनुसार कार्य करता है और उसका यजमान यज्ञफल को सर्वस्व समझता है, उसी प्रकार वानरों ने पुल बनाया। उस महान वरणीय राम ने समुद्र को शिलाओं से ढँक दिया। वानरों ने राम स्पृष्ट पत्थरों को समुद्र में तैरा दिया। जो पत्थर समुद्र में तैर रहे थे वह न तो पत्थर का गुण था न समुद्र का और न ही वानरों का, वह तो श्रीराम का प्रताप था।

अथावीचियमित्येतद्विवृणोति–पविमवन्त इति। यथा पवित्रवन्तः अध्वर्यवः वाचं पर्यासते विध्यर्थं कृष्णमनुतिष्ठन्ति, एषां पिता भृतिदानेन पालयिता यजमानः व्रतं यज्ञं फलम् अभिरक्षति सर्वस्वीकृत्यास्ते, एवं यत्प्रयुक्ता वानराः सेतुं चक्रुः। स महो महान् वरुणो वरणीयः रामः समुद्रं तिरोदधे शिलाभिराच्छादितवान्। धीराश्च वानराः धरुणेषु भूमिधरणसमर्थेषु धरणेषु पर्वतेषु आरभितुं स्पर्शमेव शेकुः कर्तुमिति शेषः। न तु तान्वोढुं सलिले वा तारयितुं शेकुरिति भावः। यथोक्तमभियुक्तैः "ये मज्जन्ति निमज्जयन्ति च परान्स्ते प्रस्तरा दुस्तरे वार्धौ वीर तरन्ति वानरभटान्सन्तारयन्ते च वै। नैते ग्रावगुणा वारिधिगुणा नो वानराणां गुणाः। श्रीमद्दाशरथेः प्रतापमहिमारम्भः समुज्जृम्भते" ॥ १५२ ॥

सहस्रधारे वितते समस्वरन्दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः।
अस्य स्पशो न निमिषन्ति भूर्णयः पदे पदे पाशिनः सन्ति सेतवः

ऋ. ९. ७३, ४

स्वर्ग में सोमाभिषवण के लिए वे प्रसिद्ध देवर्षि मन्त्र पढ़ते हैं और कर्मभूमि में हितैषी सोमाभिषवण के बिना ही तीनों वर्णों के प्रति मधुर बोलते हैं। सेतु बन्धनकर्ता अन्तर्यामी तुम्हारे द्वारा प्रेरित देवता राम के सेवक की पग-पग पर रक्षा करें।

अथ प्रतिष्ठासवः सर्वत्र निग्रहानुग्रहकर्त्ता त्वमेवासि अतः स्वस्थानस्थाने वास्मान्पाहीत्याशयेनाह–सहस्रधारे इति। सहस्रधारे सोमे अभिषवणीये निमित्ते वे प्रसिद्धाः देवर्षयः समस्वरन् अवश्यं सोमः सोतव्य इति शब्दमकुर्वन् कुत्र दिवो नाके स्वर्गे कर्मभूमौ मधुजिह्वाः मधुरभाषिणो हितैषिण इति यावत् असश्चतः सोमाभिषवणं विना गतिहीनान् त्रैवर्णिकान् प्रति समस्वरन्निति योजना। फलितमाह–अस्येति अस्य सोमाभिमानिनो विष्णोः समुद्रतीरे धातुः रामस्य स्पशाश्चाराः पदेपदे सन्ति न च ते निमिषन्ति अत्यन्तावहिताः सन्तीत्यर्थः।

अनिमेषणोपलक्षिता देवा एवास्य चारास्ते च भूर्णयो बहुप्रदाः पाशिनाः पाशवन्तश्च सेतवो बन्धनकर्तारश्च त्वमन्तर्यामी त्वत्प्रेरिताश्च देवाः सर्वत्रास्माभ्यान्त्वित्यर्थः । इतः परं सूक्तशेष प्रागेवोपोद्घाते व्याख्यातः ॥ १५३ ॥

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्व१स्परि ।

देवाँ उपप्रैत्सप्तभिः परामार्त्तण्डमास्यत् ॥ १५४ ॥

ऋ. १०. ७२, ८

जैसे लक्ष्मणादि राम के अनन्य हैं वैसे उनकी पत्नी सीता राम की अनन्य है । रामादि चारों भाइयों के आठ पुत्र विभिन्न स्थानों के राजा हुए । वह जगन्माता द्युलोक में पुत्रों के साथ गयीं । वे चारों गार्हस्थ्य वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए ब्रह्मलोक में गये ।

एवं स्तुत्वा गतेषु मुनिषु शेषभवतारकृत्यं "वनस्य मध्ये मिथुनाविवती, अश्वमधीत्यारोदयन्मुषायन्" इति उपोद्घाते एव किंचिद्व्याख्यातं ततोऽप्यवशिष्टमृषिराह—अष्टाविति । यथा लक्ष्मणादयो रामादनन्याः एवं तद्भार्या अपि सीतातोऽनन्याः, अतस्तासां पुत्राः अदितिशब्दितायाः सीताया एव पुत्राः, ते चाष्टौ कुशलवादयः, तेचादितेः पृथिव्यास्तन्वः शरीरस्य परि उपरि जाताः राजान इतिशेषः । रामादीनां चतुर्णामष्टौ पुत्रा अष्टसु स्थानेषु राजानो जाता इति रामायणादौ स्पष्टम् । सा च जगन्माता देवान्द्युलोकं सप्तभिः पुत्रैः सह उपप्रैत् उपगता, ये च गार्हस्थ्यवन्तश्चत्वारो वर्णास्तथ आश्रमाश्च तांश्च परा मार्त्तण्डसूर्यमण्डलात्परस्तात् ब्रह्मलोके आस्यत् क्षिप्तवती ॥ १५४ ॥

सप्तभिः पुत्रैरदितिरुपप्रैत्पूर्व्यं युगं प्रजायै

मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्त्तण्डमाभरत् ॥ १५५ ॥

ऋ. १०. ७२, ९

पहले ब्रह्मलोक में प्रजा की रचना हुई तब उसमें से एक अंश लेकर सूर्य की रचना की गई । वर्षा द्वारा भूमि पर प्रजा की वृद्धि हुई ।

पूर्व्यं युगं ब्रह्मलोकं मृत्यवे मृत्युसम्बन्धिन्यै प्रजायै मर्त्यान्स्रष्टुं त्वत् एकं स्वांशमादाय पुनर्मार्त्तण्डम् आभरत् आप्यायितवती, ततो वृष्टिद्वारा पुनर्भूमौ प्रजावृद्धिं कृतवतीत्यर्थः ॥ १५५ ॥

भूमिर्भूमिमगान्माता मातरमप्यगात् ।

भूयास्म पुत्रैः पशुभिर्यो नो द्वेष्टि स भिद्यताम् ॥ १५६ ॥

सीता भूमि में चली गयी। माता भूमि को शिर पर धारण करने वाले शेष नाग रूपी लक्ष्मण अपनी प्रकृति के अनुसार अनन्त में लीन हो गये। हम लोग पुत्र और पशुओं के साथ रहें। जो भी द्वेष और मृत्यु है वह नष्ट हो।

इतः प्रागेव सीतालक्ष्मणौ स्वं विग्रहमुपसंजह्रतुरित्याह—भूमिरिति। भूमिः सीता भूमिम् अगात् प्रविवेश, माता भूमेस्तोलयिता शिरसा धर्ता शेषरूपी लक्ष्मणः मातरं स्वप्रकृतिमनन्तम् अप्यगात् अपि गतः, वयं च पुत्रैः पशुभिश्च सङ्गता भूयास्म, यो नो द्वेष्टि रजकादिर्निन्दको वा मृत्युर्वा स भिद्यतां नश्यतु ॥ १५६ ॥

नावान क्षोदः प्रदिशः पृथिव्याः स्वस्तिभिरति दुर्गाणि विश्वा।
स्वांप्रजां बृहदुक्थो महित्वावरेऽदधादापरेषु ॥ १५७ ॥

ऋ. १०. ५६, ७

प्रजा का कल्याण करने वाले, पृथ्वी को जीतकर प्रजा को सङ्कट से पार कराने वाले, महान कर्म करने वाले राम अपनी महिमा से अपनी प्रजा को उसी प्रकार ब्रह्मलोक में ले जायेंगे। जैसे नौका के द्वारा महानदी पार की जाती है।

उपाधिपक्षपाती मायावी मायाकृतं सर्वमनुचकारेत्याह—नावानेति। नावान नौकया यथा क्षोदो महारुद्र आक्रम्यते, एवं स्वस्तिभिः कल्याणैः पुष्पकादिभिः पृथिव्याः प्रदिशः प्रदेशान् आक्रम्य स्वां प्रजां विश्वा सर्वाणि दुर्गाणि सङ्कटानि अतिपारयित्वा बृहदुक्थो महाकर्मा रामः महित्वा स्वमाहात्म्येन सन्ततिरूपां प्रजाम् अवरेषु भूलोकेषु जनरूपां प्रजां परेषु ब्रह्मलोकेषु च अदधात्। एतेन पौरजनपदानात्मलोकं प्रापयन् महाकारुणिको रामभद्र एव शरणी करणीय इति दर्शितम् ॥ १५७ ॥

लक्ष्मणार्यपरतां गिरामिमां लक्ष्मणार्यपुरुषेण दर्शिताम् ॥ साङ्गवेदपदवाक्यमानवित्कोपि वीक्ष्य सुमतिः प्रमोदताम् ॥ १ ॥ श्रीरामरक्षाव्याख्यानं मन्त्ररामायणाभिधम् ॥ व्याख्यातं राघवस्तेन प्रीयतां करुणानिधिः ॥ २ ॥ दर्शितः सीतयाद्ध्वायं वेदारण्ये निरध्वनि ॥ सन्तो विपुलयन्त्वेनं यास्कभाष्यानुयायिनः ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणमर्यादाधुरन्धरचतुर्धरवंसावतंसगोविन्दसूरिसूनोः श्रीनीलकण्ठस्य कृतिः स्वोद्धृतमन्त्ररामायणव्याख्या मन्त्ररहस्यप्रकाशिकाख्या समाप्तिमगमत् ॥

हमारे प्रमुख प्रकाशन
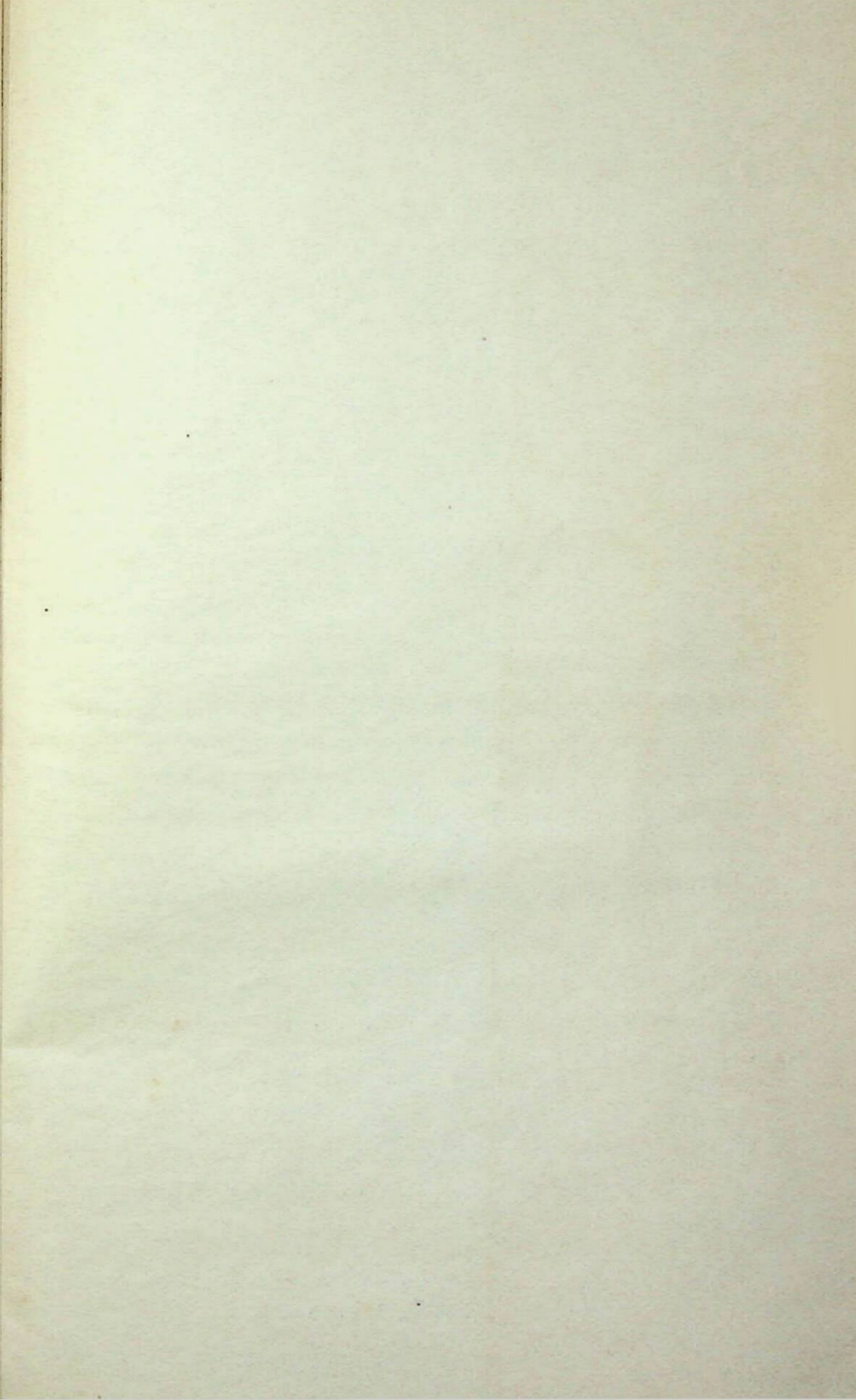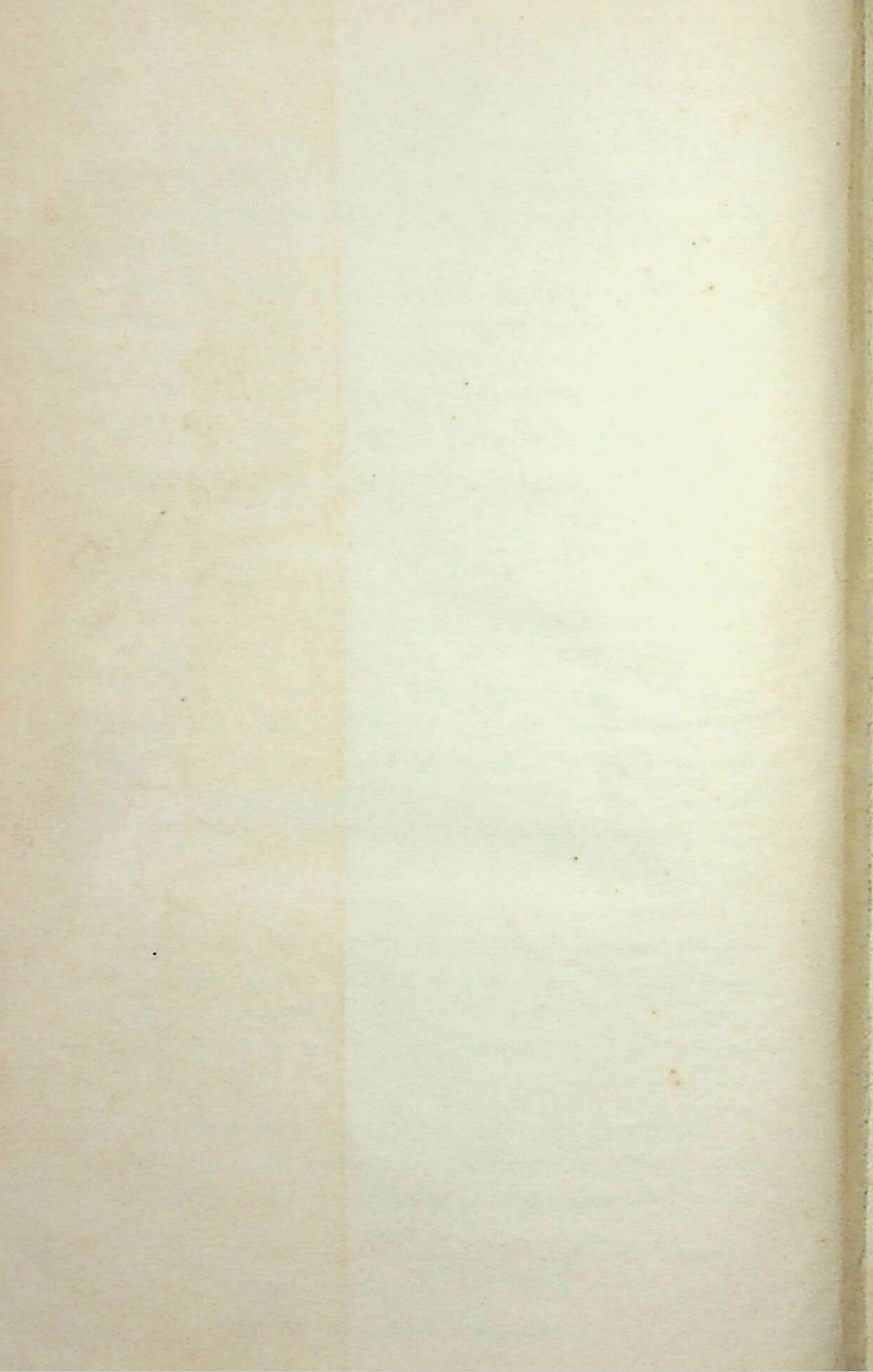
तन्त्र मन्त्र सम्बन्धी

१. हिन्दी मन्त्र महार्णव (मूल एवं हिन्दी अनुवाद)
देवी खण्ड १७५/-, देवता खण्ड १७५/-, मिश्र खण्ड १००/-

२. श्रीविद्यार्णव तन्त्रम् (मूलमात्र)
पूर्वार्धम् १५०/- उत्तरार्धस्य प्रथमो भागः १५०/-

३. कुलार्णव तन्त्र (मूल एवं अंग्रेजी अनुवाद) ७५.००

४. नारदपञ्चरात्रम् (मूल एवं हिन्दी अनुवाद) मूल्य : १००/-

५. धनदारतिप्रिया तन्त्र (मूल एवं हिन्दी अनुवाद) मूल्य : ५/-

६. मातृकाभेद तन्त्र (मूल एवं संस्कृत टिप्पणी सहित) १५/-

७. त्रिपुरासार समुच्चय (नागभट्टकृत एवं गोविन्दाचार्य की संस्कृत टीका) ८/-

८. बृहत् तन्त्रसार (मूलमात्र) मूल्य : १००/-

९. सप्तशतीसर्वस्वम् मूल्य : ६०/-

१०. त्रिपुरातापिन्युपनिषद् एवं त्रिपुरोपनिषद् मूल्य : ३/-

११. हनुमद्वाडवानल स्तोत्र एवं हनुमल्लांगूलास्त्र स्तोत्र मूल्य : १/-

१२. शिवस्वरोदय (मूल एवं अंग्रेजी अनुवाद सहित) १६/-

१३. शनिस्तोत्रावलि ३/-

१४. वामकेश्वरीमतम् (मूल एवं अंग्रेजी अनुवाद सहित) १५/-

१५. कौलज्ञाननिर्णय (मूल एवं अंग्रेजी अनुवाद सहित) ५०/-

१६. डामर तन्त्र (मूल एवं अंग्रेजी अनुवाद) २५/-

१७. डामर तन्त्र (मूल एवं हिन्दी अनुवाद) १८/-

१८. मन्त्र रामायण (मूल एवं हिन्दी अनुवाद) १५/-

कतिपय अन्य प्रकाशन

शृङ्गार तिलक (रुद्रट) सहृदयलीला (रुय्यक) (मूल एवं हिन्दी अनुवाद) २०.००

बौद्ध तर्कभाषा (मूल एवं हिन्दी अनुवाद सहित) १०.००

स्वप्न कमलाकर (मूल एवं हिन्दी) ५.००

अद्भुत रामायण (महर्षि वाल्मीकि कृत) सजिल्द १६.०० पेपर बैक १२.००

सामुद्रिकशास्त्रम् (मूल एवं भावार्थबोधिनी टीका सहित) २०/-

Indological Reference Series

1. Encyclopedia of Yoga : Ram Kumar Rai 100.00
2. Dictionaries of Tantraśāstra (Tantrābhidhānam) 50.00
3. Encyclopedia of Indian Erotics : Ram Kumar Rai 80.00

धन्वन्तरि ग्रन्थमाला

१. वङ्गसेन संहिता (मूल हिन्दी अनुवाद एवं परिशिष्ट सहित) १५०.००

२ हारीत संहिता (मूल एवं हिन्दी अनुवाद) मूल्य : ७५/-